

॥ श्रीः ॥

श्रीनिवास - स्तोत्र - ग्रन्थमाला —

सप्तम पुष्प

॥ श्री आळवन्दारस्तोत्ररत्नम् ॥

श्रीवरदवल्लभास्तोत्रम् रामानुजचतुःश्लोकी च

[ हिन्दी अनुवाद — विवरण समेत ]



प्रसारक —

श्रीनिवास उद्योग प्रतिष्ठान,

श्रीनिवास हाउस, बॉम्बे रोड,

फोर्ट, बम्बई - १.

प्रकाशक —

सुदर्शन शास्त्री, M. Com., LL. B.  
संचिव, भारती पब्लिकेशन्स प्रा. लि.,  
इन्दौर ।

\*\*\*

मुद्रक — श्रीमती दुर्गाबाई शास्त्री, मैनेजिंग डायरेक्टर,  
भारती प्रिण्टिंग प्रेस,  
भारती भुवन, १५१, इमली बाजार  
इन्दौर — ४ (म. प्र.) ।

\*\*\*

मूल्य—रु. १=२५

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन सुरक्षित ।

प्रथमावृत्ति,

दिसम्बर १९७१ ई. ।



॥ श्रीः ॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥



卐 श्री आळवन्दार स्तोत्र-रत्नम् 卐

• • •

● श्री वरदवल्लभा स्तोत्रम् ●

\* \* \*

★ श्री रामानुज चतुःश्लोकी ★

[ भूमिका, हिन्दी अनुवाद तथा विवरण सहित ]

१९७२

॥ श्रीः ॥



इन्दौर केन्द्र

सम्पादकीय - विद्वन्मण्डल

\*\*\*

प्रोफेसर टी. भीमाचार्य  
M.A. (HONS.) विद्वान्

डॉ. सुरेन्द्रनाथ शास्त्री  
M.A., D.PHIL., LL.B., F.R.A.S. (LONDON)

डॉ. निखिलेश शास्त्री  
M.A., M.LITT., PH.D.

पं. रमाकान्त शास्त्री  
व्याकरणाचार्य

# ॥ श्रीः ॥

## विषय-क्रम

|                                       |                        |         |
|---------------------------------------|------------------------|---------|
|                                       |                        | पृष्ठ   |
| १. प्राक्कथन [ सम्पादकीय ]            |                        | क-घ     |
| २. भूमिका —                           |                        |         |
| (१) ग्रन्थकार का परिचय                |                        | १- २१   |
| (२) एक समीक्षा                        |                        | २२- ४४  |
| ३. श्री वेंकटेश का चित्र              |                        | ...     |
| ४. आळवन्दार स्तोत्ररत्नम्             | [ सार्थ ]              | १- ७२   |
| ५. वरदवल्लभा स्तोत्रम्                | [ सार्थ ]              | ७३- ७८  |
| ६. रामानुज चतुःश्लोकी                 | [ सार्थ ]              | ७९- ८२  |
| ७. विवरण                              | [ विवृति संख्या १-३० ] | ८३-१०८  |
| परिशिष्ट -                            |                        |         |
| १. रामानुजचतुःश्लोकी [ मूल पाठान्तर ] |                        | १०९     |
| २. श्लोकानुक्रमणी                     |                        | ११०-११२ |



# सत्य-व्रत

३३

३४

३५

३६

३७

३८

३९

४०

[सत्य-व्रत] [सत्य-व्रत]

[सत्य-व्रत]

[सत्य-व्रत] [सत्य-व्रत]

[सत्य-व्रत] [सत्य-व्रत]

[सत्य-व्रत] [सत्य-व्रत]

[सत्य-व्रत] [सत्य-व्रत]

[सत्य-व्रत] [सत्य-व्रत]

[सत्य-व्रत] [सत्य-व्रत]

[सत्य-व्रत] [सत्य-व्रत]

[सत्य-व्रत]

[सत्य-व्रत] [सत्य-व्रत]

## प्राकथन

श्रीवैष्णव स्तोत्र-साहित्य में श्री यामुनाचार्य कृत स्तोत्र-रत्नम् का सविशेष माहात्म्य है। प्राचीन पण्डित-परम्परा में सुप्रसिद्ध रचनाओं को अपने नाम से न कहते हुए उनके प्रणेता कवि के नाम से उल्लेख करने की प्रणालिका है। जैसे शिशुपालवध माघ काव्य के नाम से, रावणवध भट्टिकाव्य के नाम से ही प्रचलित हैं उसी तरह यह स्तोत्र-रत्नम् भी उनके रचयिता "आळवन्दार" के नाम से प्रथित है। आळवन्दार श्री यामुनाचार्य का अपर नाम है। यह तमिळ भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'शासन करने आये हुए'<sup>१</sup>, होता है। तमिळ भाषा से अनभिज्ञ अनेक भक्तों को इस पद के अर्थ में भ्रान्त धारणाएं हैं जैसे आळवन्दार का कोई लोग

---

१. देखो आगे भूमिका पृ. ९

[ ख ]

‘आळ=मेरा, वन्दार=रक्षक’ कहकर यह स्तोत्र ‘मेरे रक्षक’ की स्तुतिपरक है ऐसा समझ बैठे हैं। किसी प्रकार की खींचतान करने पर भी तमिळ भाषा में न ‘आळ’ का अर्थ ‘मेरा’ और न ‘वन्दार’ का अर्थ ‘रक्षक’ ही होता है।

इस रचना में कुल ६५ पद्य हैं। साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार स्तोत्र-पाठ से पूर्व और पश्चात् उसके रचयिता मुनिवर को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करने की पद्धति है, तदनु रूप प्रस्तुत स्तोत्र के प्रारम्भ में पहिले तीन पद्य और अन्त में भी एक पद्य श्री यामुनाचार्य की प्रणति में कहे गये हैं। यह स्तोत्र विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रायः सब ही मूलतत्त्वों का बड़ी भावुकता से प्रतिपादन करता है। अतः स्तोत्रों में उत्कृष्ट होने के कारण इसका नाम स्तोत्ररत्न [जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते] सर्वथा चरितार्थ है।

उसी तरह भगवद्भक्ति का श्रेष्ठ उपाय है पराम्बा के द्वारा भगवत्सान्निध्य में पहुँचना। जगन्माता श्री भक्तगण, जो भगवान् तक पहुँचाने का अनुग्रह करती



है; अतः श्रीवैष्णवों में महालक्ष्मी की उपासना का बड़ा महत्त्व है। महालक्ष्मी की स्तुति में 'श्री वरदवल्लभा स्तोत्र' की विशेष महिमा है।

साथ ही साथ सम्प्रदाय के आदि प्रतिष्ठापक भाष्यकार स्वामी श्रीमद् रामानुजाचार्य का जय जयकार करना भी गुरुपरम्परा के स्मरण में अनिवार्य स्थान रखता है। अतः प्रस्तुत सङ्कलन में आळवन्दार स्तोत्ररत्नम् के अनन्तर श्री वरदवल्लभा स्तोत्र एवं श्री रामानुजचतुःश्लोकी भी संगृहीत हैं। अर्थानुसन्धान के बिना शुक्वत् केवल शब्दशः पाठ का महत्त्व स्वल्प ही है, अतः जिज्ञासु भक्तवृन्द को प्रबन्धपाठ के समय सतत उसके अर्थ का भी अनुसन्धान बना रहे इस उद्देश्य से पहली बार हिन्दी अर्थ सहित यह संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। स्थान स्थान पर पौराणिक सन्दर्भ तथा दार्शनिक तत्त्व अन्तर्निहित हैं, उनके विश्लेषण में सौकर्य हो इस लिये सार्थ मूलपाठ के पश्चात् हिन्दी में विवृति देकर समुचित टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। प्रारम्भ में परिचयात्मक तथा साहित्यिक एवं दार्शनिक

[ घ ]

दृष्टि से इन अनमोल रचनाओं की समीक्षा भी भूमिका में दी गई है। अन्त में, सन्दर्भ में सुकरता के लिये श्लोकानुक्रमणी भी संलग्न है।

इस तरह प्रस्तुत सङ्कलन को शुद्ध मूलपाठ के साथ साथ हिन्दी अनुवाद से संयोजित कर पाठकोपयोगी बनाया गया है। आशा है यह प्रयास जिनके लिये किया गया है उन भक्तजन के इष्टसाधन में उपयोगी सिद्ध होगा।

कुम्भमास  
आमलकी एकादशी  
वि. सं. २०२८।

सम्पादक  
विद्वन्मण्डल, विशिष्टाद्वैत विभाग,  
भारती अनुसन्धान संस्था,  
इन्दौर केन्द्र।

॥ श्रीः ॥

भूमिका

: १ :

ग्रन्थकार का परिचय

---

श्री यामुनाचार्य उपनाम श्री आळवन्दार

( ई. स. ११८ — ई. स. १०३८ )

---

स्तोत्ररत्नम् के रचयिता श्रीयामुनाचार्य विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रथम आचार्य श्रीनाथमुनि के पौत्र थे । इनका जन्म ई. सं. ११८ में वीरनारायणपुरम् नामक ग्राम में हुआ । इनके पिता का नाम ईश्वरमुनि था । ईश्वरमुनि जो श्रीनाथमुनि के एकमात्र पुत्र थे युवास्वथा में ही वैकुण्ठवासी हो गये थे । अपने एकमात्र पुत्र के इस असामयिक निधन से खिन्न होकर श्रीनाथमुनि ने सन्यास ले लिया था ।



## विद्यापरम्परा

श्रीनाथमुनि ने श्री नम्माळ्वार की स्तुति में मधुकर कविद्वारा विरचित एक पद्य को १२ सहस्र बार पढ़ कर श्री नम्माळ्वार को प्रसन्न कर उन के स्वरचित तिरुवाय्मोळि नामक प्रबन्ध ( सहस्रगीति ) को प्राप्त किया था । इस प्रबन्ध को श्री नाथमुनि ने अपने शिष्य पुण्डरीकाक्ष को दिया । पुण्डरीकाक्ष ने अपने शिष्य राम मिश्र को यह कह कर उसे दिया था कि वे इस प्रबन्ध को श्रीयामुनाचार्य को दें दें । तदनुसार राम मिश्र ने पुण्डरीकाक्ष से जो कुछ सीखा था वह सब श्रीयामुनाचार्य को सिखाया । यद्यपि पुण्डरीकाक्ष के जीवन काल में श्रीयामुन का जन्म नहीं हुआ था तथापि श्री नाथ मुनि की एक भविष्यवाणी के आधार पर राममिश्र को उन्होंने उपयुक्त आदेश दिया था । इस प्रकार श्री यामुन को राममिश्र से तिरुवाय्मोळि दिव्य प्रबन्ध तथा अन्य शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त हुई ।

उन दिनों महाभाष्य भट्टारक अथवा भाष्याचार्य नामक एक दिगज विद्वान् थे । उनके पास श्रीयामुन अध्ययन करने लगे । उस समय

श्रीयामुन केवल १२ वर्ष के थे । उन्हीं दिनों चोल मण्डल के राजा के दरबार में अक्कियाळ्वार नामक एक बड़ा आस्थान विद्वान् (राजाश्रित सभापण्डित) था । उस देश के सभी पण्डितों को वादविवाद में पराजित कर वह उनसे वार्षिक कर के रूप में दश पणक वसूल करता था । श्री यामुन के गुरु भाष्याचार्य को भी इस प्रकार का वार्षिक कर उसे देना पड़ता था । घनाभाव के कारण वे २-३ वर्ष से इस कर को चुका नहीं पाये थे । एक दिन अक्कियाळ्वार का एक शिष्य श्रीभाष्याचार्य से बकाया कर वसूल करने आया । उस समय श्रीभाष्याचार्य अपने आवास पर नहीं थे । श्रीयामुन ने सब बातें समझ ली । उन्होंने कर के विषय में भेजी हुई अक्कियाळ्वार की चिट्ठी फाड़ कर फेंक दी और प्रत्युत्तर में शिष्य के हाथ यह श्लोक लिख भेजा :—

न वयं कवयस्तु केवलं, न वयं केवलतन्त्रपारगाः ।

अपि तु प्रतिवादिवारणप्रकटाटोपविपाटनक्षमाः ॥१

१. हम न केवल कवि हैं, न केवल शास्त्र-पण्डित हैं । किन्तु हम में दिग्गज के सहाय प्रतिवादियों के गर्व को चूर्ण करने की भी शक्ति है ।

यह श्लोक पढ़कर अक्कियाळवार को बड़ा आश्चर्य हुआ और इस सम्बन्ध में उसने राजा के सामने निवेदन किया ।

बुद्धिमान् राजा ने भी श्रीयामुन को आदर के साथ लिवा लाने के लिये अपने परिजन के साथ पालकी भेजी । उस पर चढ़ कर श्रीयामुन राजदरवार में आये और उन्होंने यह श्लोक लिखकर अक्कियाळवार को दिया :—

आ शैलादद्रिकन्याचरणकिसलयन्यासधन्योपकण्ठाद्  
आ रक्षोनीतसीतामुखकमलसमुल्लासहेतोश्च सेतोः ॥  
आ च प्राच्यप्रतीच्यक्षितिधरयुगलादर्कचन्द्रावतंसाद्  
मीमांसाशास्त्रयुग्मश्रमविमलमना मृग्यतां मादृशोऽन्यः ॥१

— प्रपन्नामृत III.

१. पर्वतपुत्री पार्वती के कोमल चरणों के विन्यास से जिस की प्रान्तभूमि (आसपास के प्रदेश) धन्य हो गई है ऐसे हिमालय पर्वत से ले कर रावण द्वारा अपहृत सीता के मुख कमल को उलसित करने वाले सेतु (लङ्का) जाने



यह श्लोक पढ़कर अक्रियालुवार ने राजा से कहा “इस अभिमानी बालक को वाद में जीत कर इसका गर्व चूर चूर कर दूंगा” । तब राजा ने श्री यामुन से पूछा “क्या हमारे सभापण्डित के साथ वाद करने के लिये आप तैयार हैं ?” श्री यामुन ने उत्तर दिया, ‘महाराज ! वाद ही के लिये तो मैं आया हूँ । आप अवश्य प्रबन्ध करें ।’ राजा ने सभी पण्डितों को एकत्र कर अपनी रानी के साथ स्वयं सभा में विराजमान हो आज्ञा दी कि वाद प्रारम्भ हो । इसी बीच राजा और रानी आपस में सम्भाषण करने लगे और रानी ने बालक की मुखमुद्रा, तेज और गाम्भीर्य को देख कर राजा से कहा “यह तो कभी पराजित नहीं होगा ।” राजा अपने सभापण्डित

---

के हेतु समुद्र पार करने के लिये श्रीरामचन्द्र की आज्ञा से निर्मित सेतु) तक अर्थात् आसेतु हिमाचल तथा सूर्य और चन्द्र जिनके शिरोभूषण हैं ऐसे पूर्व और पश्चिम पर्वतों की परस्पर सीमा तक (पूर्व पश्चिम पर्वतों के मध्यवर्ती प्रदेश में) — अर्थात् समस्त भारत में उभयसीमांसा (पूर्वसीमांसा उत्तरसीमांसा) शास्त्रों के अध्ययन में किये हुए परिश्रम से निर्मल बुद्धिवाला मेरे समान अन्य कोई हो तो ढूँढा जाय । )

का पक्ष लेकर कहने लगे, “हमारा पण्डित तो कभी पराजित नहीं होगा । अस्तु, जिसकी जीत होगी उसे मैं अपना आधा राज्य दे दूंगा ।”

तदनन्तर अक्कियाळ्वार ने श्री यामुन से कहा, “शास्त्रार्थ में चर्चा बाद में करेंगे । पहले व्यावहारिक बातों पर चर्चा कर लें । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जो तुम कहोगे उसके विपरीत मैं सिद्ध कर दूंगा ।” यह सुनकर श्री यामुन ने ये तीन बातें कहीं :— (१) तुम्हारी माता वन्ध्या नहीं, (२) राजा परम धार्मिक है (३) राजपत्नी पतिव्रता है । अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अक्कियाळ्वार को यह सिद्ध करना था : (१) मेरी माता वन्ध्या है, (२) राजा परम धार्मिक नहीं हैं, (३) राजपत्नी पतिव्रता नहीं है । वह यह कैसे कह सकता था ? किन्तु वह बहुत क्रुद्ध हुआ और बोला, “मेरा मुँह बन्द करने के लिये ही तुमने ऐसी बातें कही हैं । अब तुम ही तुम्हारे कथनों के विपरीत सिद्ध करो, देखें । स्मरण रहे, यदि तुम इसमें सफल नहीं होगे तो जीवित नहीं रह सकोगे ।

अब श्री यामुन ने अपने कथनों के विरुद्ध प्रमेय प्रस्तुत किये । अपने प्रथम कथन के विरुद्ध उन्होंने कहा, “आपकी माता वन्ध्या अवश्य है,

क्योंकि आप उनके एकमात्र पुत्र हैं । शास्त्रों के अनुसार जिसको एक ही सन्तान है वह निःसन्तान ही है :—

“अपुत्र एकपुत्र इति शिष्टप्रवादात्”

— मनुसंहिता, IX. 61 मेघातिथि भाष्य ।

अपने द्वितीय कथन के विरुद्ध उन्होंने कहा, “राजा परम धार्मिक नहीं है” क्योंकि शास्त्रों के अनुसार जो राजा अपनी प्रजा का रक्षण करता है उसको प्रजा के धर्म का छठा भाग मिलता है, और यदि प्रजा का योग्य रक्षण करने में असमर्थ हो जाय तो उनके अधर्म का भी छठा भाग राजा को प्राप्त होता है । यथा — “राजा राष्ट्रकृतं पापं...भुंक्ते ।”

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।

अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥

—मनुसंहिता VIII, 304

कलियुग में धर्म एकपाद होता है और अधर्म त्रिपाद होता है । अतः राजा कितना भी अच्छा तथा समर्थ क्यों न हो प्रजा तो अधर्म कार्य



करती ही है और उसका छठा भाग भी राजा को अनिवार्यतः प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में कोई भी राजा परम धार्मिक नहीं हो सकता।

अपने तृतीय कथन के विरुद्ध श्री यामुन ने कहा, 'मनु के अनुसार राजा अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, धर्म, कुबेर, वरुण तथा इन्द्र इन सब दिक्पालों का अवतार है :—

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।

स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ [ मनुसंहिता VII-7.

ऐसी स्थिति में रानी केवल राजा की पत्नी कैसी कही जा सकती है? वह तो सब अष्ट दिक्पालों की भी पत्नी हुई। इस स्थिति में 'राजपत्नी पतिव्रता' कहना समझस नहीं है।

यह शास्त्रार्थ सुनकर सभी पण्डित, राजा, रानी तथा अन्य श्रोता दंग रह गये।

इस के पश्चात् शास्त्रार्थ में चर्चा हुई। उस में भी श्री यामुन की ही जीत हुई। वहाँ उपस्थित सभी विद्वानों ने निर्णय दिया कि

अक्रियाळ्वार को पराजित करने वाले श्री यामुनाचार्यजी को ब्रह्मरथ में बिठाकर नगर में शोभायात्रा निकालकर वीथी परिभ्रमण महोत्सव किया जाय । यह सब सुन कर रानी तो हर्षातिरेक में उठकर श्री यामुन के पास आकर सम्भ्रम के साथ बोली “आळवन्दीरो ?” = क्या हम पर शासन करने आये हो ?” चोल मण्डलाधीश ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार श्री यामुन को अर्ध राज्य देकर उनका पट्टाभिषेक किया । उस दिन से श्री यामुन का नाम ‘आळवन्दार’ ( शासन करने आये हैं ) ऐसा प्रसिद्ध हुआ ।

इस प्रकार राज्य प्राप्त कर श्री यामुनाचार्य राज्य शासन कार्य में मग्न हो गये । क्रमेण राजसुलभ ऐहिक सुख में भी वे आसक्त होने लगे । हां, इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि उनके शासन काल में प्रजा सुखी थी ।

इन्हीं दिनों श्रीयामुनार्य के पितामह श्रीनाथमुनि का देहान्त हो गया । मरते समय उन्होंने अपने शिष्य राममिश्र से कहा था “देखो, यामुन सांसारिक सुखों में आसक्त होकर अपना पारमार्थिक कर्तव्य न भूले । मैं उसे (यामुन को) तुम्हारे हाथ सौंप रहा हूँ” । इस आदेश के अनुसार

श्रीयामुन को पुनः पारमार्थिक मार्ग पर लाना राममिश्र का कर्तव्य हो गया था ।

जब श्री यामुनाचार्य लगभग ३५ वर्ष के थे, राममिश्र एक दिन उनसे मिलने राजप्रासाद के द्वार पर आये । किन्तु द्वारपालों ने उन्हें भीतर जाने से रोक दिया । तब राममिश्र सोचने लगे कि श्रीयामुन से मिलने के लिये क्या उपाय किया जाय ।

इसके बाद एक दिन राममिश्र ने अलर्क<sup>१</sup> नाम की एक शाक लाकर राजा के रसोइया को दी और कहा “यह शाक बहुत अच्छी है और राजा को प्रतिदिन इसका सेवन कराना चाहिये ।” प्रतिदिन शाक ला देने का काम राममिश्र ने अपने ऊपर ले लिया था । यह सिलसिला छः माह तक चला । इसके बाद कुछ दिनों के लिये राममिश्र ने शाक लाना बंद कर दिया । एक दिन भोजन के समय यामुनाचार्य ने पूछा “आजकल वह शाक क्यों नहीं बनाते ?” तब रसोइये ने कहा “महाराज ! प्रतिदिन एक साधु

---

१. संभवतः तमिल भाषा में इसे ‘तूदुवेले’ कहते हैं ।



ब्राह्मण यह शाक ला देते थे; वे कुछ दिन से नहीं आ रहे हैं अतः वह शाक नहीं बनायी जाती ।” तब श्रीयामुनाचार्य ने आज्ञा दी कि जब वह ब्राह्मण पुनः आय तो मुझसे मिलाना ।

दूसरे ही दिन राममिश्र आये और रसोइये ने उन्हें राजा से मिला दिया । तब एकान्त में राममिश्र ने श्रीयामुन को अपना परिचय दिया और श्रीनाथमुनि के देहान्त के सम्बन्ध में जानकारी देते हुए कहा, “मरते समय आपके पितामह श्रीनाथमुनि ने मेरे पास एक बड़ी निधि रख कर उसे आप को देने के लिये कहा है । आप उसे स्वीकार कीजिये और मुझे उस भार से मुक्त कीजिये ।”

“कृपा करके बताइये वह निधि कहाँ है ?” — श्रीयामुन ने बड़ी उत्सुकता से पूछा । राममिश्र ने कहा “आप मेरे साथ चलिये; मैं उस स्थान पर ले चलूँगा जहाँ वह निधि रखी हुई है ।” यह सुनकर श्रीयामुन राममिश्र के साथ चलने के लिये तैयार हो गये । राममिश्र उन्हें साथ लेकर श्रीरङ्ग की ओर निकल पड़े । श्रीरङ्ग पहुँचने के लिये उन्हें

लगभग पांच दिन लगे । मार्ग में जब जब विश्रान्ति के लिये रुकते थे तब राममिश्र श्रीयामुन को श्रीमद्भगवद्गीता का पाठ देते थे । इस प्रकार प्रतिदिन गीता का श्रवण करते करते श्रीरङ्गम् पहुँचने तक रास्ते में ही श्रीयामुनाचार्य के तिरोहित पुण्य का पुनः आविर्भाव हुआ और उन्हें अपने निजी कार्यक्षेत्र पारमार्थिक कर्तव्य का भान होने लगा । पांचवें दिन श्रीरङ्गम् पहुँचकर दोनों श्रीरङ्गनाथ स्वामो के मन्दिर गये । । वहाँ श्रीरङ्गनाथ के सामने खड़े होकर श्रीरङ्गनाथ के दिव्य विग्रह के दर्शन कराते हुए राममिश्र ने श्रीयामुन से कहा — “ यह है आपके पुण्यतम पूर्वपुरुषों की समाजित निधि शेषशायी भगवान् नारायण, इन्हें लीजिये और सम्हालिये । ”

ये शब्द सुनते ही श्री यामुन पागल की तरह दौड़ते हुए गर्भगृह में गये । भगवान् के आपाद मस्तक दर्शन कर वे पुलकित हुए और आनन्दाश्रुओं से गद्गद हो स्तुति करने लगे । उसी क्षण सांसारिक भोगों से विरक्त हो, ‘यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्’ इस वचन के अनुसार सन्यास आश्रम का ग्रहण कर वे श्रीरङ्ग में ही रहने लगे और प्रतिदिन भगवत्सेवा और अध्यात्म ग्रन्थों का प्रवचन करते हुए शिष्यों को पाठ देते रहे । उस समय उनके

पास विद्याध्ययन के लिये बीस विद्यार्थी आते थे जिनमें महापूर्णगुरु, गोष्ठी-पूर्णगुरु, श्री शैलपूर्ण गुरु आदि महानुभावों का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी शिष्य आगे चलकर दर्शनशास्त्र के धुरन्धर पण्डित हुए।

इस प्रकार श्री रङ्गनाथ की नित्यसेवा तथा शास्त्रों का अध्ययन एवं अध्यापन करते करते अनेक वर्ष बीत गये। श्री यामुनाचार्य बहुत वृद्ध हो गये थे। इसी बीच उन्हें एक बार काञ्चीपुरम् में श्री रामानुज स्वामी को देखने का अवसर प्राप्त हुआ था और उनके ज्ञान, गुण आदि के विषय में सुनकर वे इतने प्रसन्न हुए थे कि उन्होंने उसी समय भगवान् वरदराज से प्रार्थना की थी कि श्री रामानुज विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रवर्तक बने। अब उन्हें बाधक्य के कारण योग्य उत्तराधिकारी के विषय में चिन्ता होने लगी। सहसा उन्हें श्री रामानुज का स्मरण हुआ। तुरन्त उन्होंने श्री रामानुज को काञ्चीपुरम् से लाने के लिये अपने शिष्य महापूर्ण को भेजा। काञ्चीपुरम् पहुँचने के बाद महापूर्ण को विदित हुआ कि श्री रामानुज तीर्थ लाने के लिये शालकूप गये हैं परन्तु वे अब लौटने में ही हैं। तब यह सोच कर कि श्री रामानुज मार्ग में ही मिल जायेंगे महापूर्ण शालकूप की ओर चल दिये।



श्री रामानुज के आने के मार्ग में एक स्थान पर खड़े होकर वे श्री यामुनाचार्य के स्तोत्ररत्नम् के श्लोक गाने लगे। जब श्री रामानुज उस स्थान पर आये तब निम्नलिखित श्लोक गाया जा रहा था।

स्वाभाविकानवधिकातिशयेशितृत्वं  
नारायण ! त्वयि न मृष्यति वैदिकः कः ।  
ब्रह्मा शिवः शतमुखः परमस्वराडि-  
त्येतेऽपि यस्य महिमाणवविभ्रुषस्ते ॥

श्री रामानुज आकृष्ट होकर सुनते रहे और महापूर्ण के पास आकर उन्होंने पूछा, “यह दिव्य सूक्ति किस की है?” महापूर्ण ने उत्तर दिया, “भगवान् यामुनाय की है।” “मैं उनका दर्शन करना चाहता हूँ।” श्री रामानुज ने कहा। महापूर्ण भी यही चाहते थे। दोनों भगवान् वरदराज के मन्दिर गये और तीर्थ समर्पण कर, वे भगवान् की अनुज्ञा लेकर तुरन्त श्रीरङ्ग की ओर चल पड़े।

## श्री यामुनाचार्य की परमपद प्राप्ति

महापूर्ण के काञ्ची जाने के बाद कुछ ही दिनों में श्री यामुनाचार्य की अस्वस्थता अधिक बढ़ गई । एक दिन श्री रङ्गनाथ की सेवा कर वे मठ आये और उपनिषदों और दिव्य प्रबन्धों के पाठ सुनते सुनते भगवत्सायुज्य प्राप्त कर गये । उनके सब शिष्य बहुत दुःखी हुए । जब लोग श्री यामुनाचार्य के दिव्य शरीर को लेकर कावेरी के तट पर उनकी और्ध्वदैहिक क्रिया करने के लिये आये उसी समय महापूर्ण श्री रामानुज को साथ लेकर वहाँ जा पहुँचे । “मेरे आने के पूर्व ही श्री यामुनाचार्य का परमपद हो गया और मैं जीवित अवस्था में उनके दर्शन से वञ्चित ही रह गया” इस विचार से श्री रामानुज बहुत खिन्न हुए । जब प्रकृतिस्थ हो कर श्री रामानुज ने श्री यामुनाचार्य के मृत शरीर का दर्शन किया तब उनके हाथ की तीन अँगुलियाँ मुड़ी हुई दिखाई दीं । उन्होंने श्री यामुनाचार्य के शिष्यों से पूछा, “क्या आचार्यजी की अँगुलियाँ जीवित अवस्था में भी ऐसी ही थीं ?” उत्तर मिला “नहीं ।” श्रीरामानुज ने पुनः पूछा, “फिर

इसका क्या अर्थ हो सकता है ? क्या आचार्यजी की कुछ ऐसी इच्छाएं थीं जो उनके जीवन काल में पूर्ण नहीं हो सकीं ? शिष्यों ने कहा, “हां, उनकी तीन इच्छाएं थी :” १. श्रीनम्माळ्वार की सहस्रगीति का प्रचार हो ताकि उनके द्वारा बताये गये प्रपत्ति मार्ग को लोग अपनायें २. ब्रह्मसूत्रों पर विस्तृत व्याख्या रची जाय और ३. विष्णु पुराण के कर्त्ता श्रीपराशर की स्मृति अमर रहे अर्थात् उनके प्रति कृतज्ञता का अनुसंधान अविच्छिन्न रहे ।” यह सुन कर श्रीरामानुज ने प्रणाम किया और प्रतिज्ञा की “उनकी ये तीनों इच्छाएं मैं पूर्ण करूंगा ।” उनका यह कहना ही था कि आचार्यजी की तीनों अंगुलियाँ सीधी हो गईं । यह देख वहाँ उपस्थित सब लोग विस्मित होकर एक स्वर से बोल उठे ‘श्रीरामानुज ! आचार्यजी की कृपा आप पर है; अतः आप ही अब इस दर्शन के प्रवर्तक बनें ।” तत्पश्चात् श्रीरामानुज श्रीयामुनाचार्य के दिव्य शरीर का अन्तिम दर्शन ले, अवभृथ स्नान कर, काञ्ची चले गये । श्रीयामुनार्य के शरीर की अन्त्यविधि सम्पन्न हुई । कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रीरामानुज ने अपनी तीनों प्रतिज्ञाएं पूर्ण की ।



: २ :

## श्री यामुन की कृतियाँ

श्री यामुनाचार्य ने कुल मिलाकर छः ग्रन्थ लिखे हैं :- १ सिद्धित्रय, २. आगमप्रामाण्य, ३. गीतार्थ-संग्रह, ४. महापुरुष-निर्णय, ५. चतुःश्लोकी तथा ६. स्तोत्ररत्नम् । इन में 'सिद्धित्रय' बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इस में नास्तिकवाद, विज्ञानवाद, अद्वैतवाद, साङ्ख्यमत आदिवादों का खण्डन है । इस में तीन प्रकरण हैं : १. आत्मसिद्धि २. संवित्सिद्धि तथा ३. ईश्वरसिद्धि । माना जाता है कि सिद्धित्रय अद्वैतवाद के 'ब्रह्मसिद्धि,' 'नैष्कर्म्यसिद्धि' तथा 'इष्टसिद्धि' नाम के तीन ग्रन्थों का प्रतिक्रिा है ।

“आगमप्रामाण्य” में पञ्चरात्र संहिता की प्राचीनता तथा प्रामाण्य की चर्चा है। इसमें सिद्ध किया गया है कि जितना प्रामाण्य वेदों का है उतना ही प्रामाण्य पञ्चरात्र आगम का भी है, क्योंकि वह संहिता ईश्वरोक्त है।

पञ्चरात्रं भारतं च मूलरामायणं तथा ।

तथा पुराणं भागवतं विष्णुवेद इतीरितः ॥ [ इति नारदीये

“गीतायेंसंग्रह” में गीता के अर्थ का संक्षेप में निरूपण है। भक्ति, ज्ञान तथा कर्म योगों का विवेचन है। गीता को तीन षट्कों में विभाजित कर प्रतिषट्क का भावार्थ दिया है। अन्त में “भक्ति ही मोक्ष का साधन है और भक्ति स्वधर्माचरण तथा ज्ञान से साध्य है” — इस सिद्धान्त का सुन्दर विवरण है। “महापुरुषनिर्णय” में विस्तृत शास्त्रीय चर्चा करते हुए सिद्ध किया है कि वेद, उपनिषद् तथा पुराणों में जिस परम तत्त्व का वर्णन है वह नारायण ही है और शिव आदि अन्य कोई नहीं।

“चतुःश्लोकी” लक्ष्मी स्तुति परक चार श्लोक हैं जो सुन्दर और अर्थ-सम्पन्न हैं। यही आगे चलकर श्री कुरुक्षेत्र के श्रीस्तव, श्री पराशर भट्टाय

के 'श्रीगुणरत्नकोश' तथा श्री वेदान्त देशिक की 'श्रीस्तुति' का मार्गदर्शक हुई ऐसी मान्यता है ।

'स्तोत्ररत्नम्' ६५ पद्यों की एक भव्य स्तुति है । प्रबन्ध-पाठ की परम्परा के अनुसार स्तोत्र के प्रारम्भ में ग्रन्थकार श्री यामुनाचार्य को प्रणाम है और अन्तिम पद्य में भी उनके प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त की गई है । ये चार पद्य परवर्ती भक्त की रचना है । शेष श्री यामुन की कृति है । इस अद्भुत रचना में श्री यामुनाचार्य का बहुमुखी व्यक्तित्व प्रकट हुआ है । श्री यामुनाचार्य भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न एक महान् दार्शनिक थे, साथ ही साथ मार्मिक कवि भी थे । उनके ये सभी पहलू इस स्तोत्र में यत्र तत्र व्यक्त हुए हैं ।

स्तोत्र के प्रथम पाँच पद्यों में श्री यामुनाचार्य अपने परमगुरु पितामह श्री नाथमुनि, विष्णुपुराण के कर्ता श्री पराशरमुनि तथा श्री शठकोप ऋषि को वन्दन कर छठे पद्य से भगवान् नारायण के भव्य वर्णन में तल्लीन हो जाते हैं । पद्य २१ तक के इन सोलह पद्यों में भगवान् विष्णु के



महिमातिशय का इतना भावभीना, गम्भीर तथा प्रभावशाली वर्णन है कि मानों श्री यामुनाचार्य विष्णु के सर्वोत्तमत्व के सिद्धान्त की स्थापना में लगे हैं। यह वर्णन समाप्त होते ही अपनी तुच्छता का अनुभव करते हुए श्री यामुनाचार्य भगवान् के समक्ष अपने पापों, अपराधों, दुर्बलताओं तथा दुर्व्यसनों को निवेदन करते हुए क्षमा याचना करते हैं, और भगवान् के दर्शन के लिये तरसते हैं। पद्य ३१ में भगवान् के दर्शन की यह उत्कट इच्छा चरम सीमा तक पहुँच जाती है। उसी दर्शनोत्कण्ठा में श्री यामुनाचार्य फिर भगवान् का भावगम्भीर वर्णन करने लग जाते हैं। अब यह वर्णन दार्शनिक का नहीं किन्तु भक्त का हो जाता है। भक्त भगवान् के मङ्गल विग्रह को अपने अन्तश्चक्षु के सामने लाता है और तन्मय हो कर उस परम सुन्दर विग्रह का वर्णन करता है। पद्य ३२ से ४६ तक के पद्यों में वैकुण्ठपति का वर्णन है। सकलचराचर जगत् के स्वामी, लक्ष्मीपति, शेषशायी, नित्यसूरि-गरुड़-विष्वक्सेन आदि द्वारा निरन्तर सेव्यमान, षड्गुणैश्वर्य से सम्पन्न भगवान् नारायण का यह वर्णन हृदयंगम है और इस दृष्टि से स्तोत्र के प्रथम भाग में किये हुए बौद्धिक वर्णन

से कुछ अंशों में भिन्न है । पद्य ४७ से फिर श्री यामुनाचार्य अपनी हीनता की निन्दा करते हुए भगवान् की कृपा की याचना करते हैं । उल्लेखनीय यह है कि श्री यामुनाचार्य दया की याचना भी अधिकार के साथ करते हैं । वे कहते हैं कि यदि भगवान् दया नहीं करेंगे तो वह दया किस काम की ? यदि पापी न हों तो भगवान् अपने आप को दयावान् सिद्ध कैसे करेंगे ? इस प्रकार इस स्तोत्र में श्री यामुनाचार्य की भावनाओं के आरोहावरोह का एक क्रमबद्ध प्रवाह है । इस प्रवाह का अनुसन्धान ही एक पूर्ण उपासना बन जाती है । इस स्तोत्र में काव्य का सौन्दर्य है, दर्शन का याथार्थ्य है, पूजा की पवित्रता है और उपासना की अनुभूति तथा आविर्भाव दोनों ही हैं । इस स्तोत्र से ही अनुमान किया जा सकता है स्तोत्रकर्ता का जीवन कितना महिमाशाली होगा । आश्चर्य नहीं कि स्वयं श्री रामानुज कहते हैं कि श्री यामुनाचार्य के चरण कमलों के ध्यान से मुझे वास्तविकता की अनुभूति हुई ।

: ३ :

## एक समीक्षा

स्तोत्र-रत्नम् :

आळवन्दार श्री यामुनाचार्य प्रणीत स्तोत्ररत्नम् काव्यत्व की दृष्टि से भी एक सुन्दर रचना के रूप में सहृदयों को आकर्षित करता रहा है । दार्शनिकों में प्रमुख, कवि-पण्डित श्री अप्पय्य दीक्षित तथा समस्त शास्त्रों के अद्भुत-विद्वान् प्रतिभाशाली कविवर पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने अपने साहित्यशास्त्रीय लक्षणग्रन्थों में स्तोत्ररत्नम् के पद्यों का उदाहरणरूप में उल्लेख कर इस रचना को सम्मानित किया है । काव्यतत्त्व की दृष्टि से इसमें सब ही विशेषताएँ पाई जाती हैं — प्रबन्ध की दृष्टि से यह एक भक्तिपरक खण्डकाव्य है जिसमें विविध भावानुगुण वृत्त ६५ हैं । रचना प्रायः मुक्तक है, केवल पद्यसंख्या ३१-३६ तक पाँच पद्यों का सङ्कलित वाक्यान्वय होने के कारण एक कुलक का भी निदर्शन उपलब्ध होता है ।



**वस्तु** — शरणागत भक्त द्वारा अपने उपास्य भगवान् श्रीमन्नारायण से महाप्रसाद प्राप्ति के लिये विनीत अनुनय ही रचना की मुख्य वस्तु है। अतः उपास्यविषयक भक्तकविगत रति स्थायी भाव है जिसका एक आलम्बन प्रपन्न भक्त है और दूसरा आलम्बन स्वयं श्रीमन्नारायण हैं। अपने आलम्बन श्रीमन्नारायण द्वारा अनेक पूर्ववर्ती भक्तवृन्दों के उद्धार के कथानकों का अनुस्मरण एवं नारायण के कल्याण गुणों की अलौकिक महिमा तथा अपनी दयनीय दशा और निस्सहायता की प्रतीति उद्दीपन विभाव हैं। अपने आलम्बन का गुणाख्यान, अपनी शोचनीय संसारग्रस्त दशा का कष्ट चित्रण, बारम्बार प्रणति रूप प्रह्वीभाव तथा अपनी क्षुद्रता का निदर्शन, पूर्वजों की सेवा-भक्ति की अनुस्मृति उसी स्थायीभाव के अनुभाव हैं। स्वकृत निन्दित कर्मों के लिए अनुताप (ग्लानि), तज्जन्य त्रास [ सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द... २३ ] भविष्य की चिन्ता, अपनी वर्तमान सांसारिक स्थिति से निर्वेद, आलम्बन के प्रति दृढ निष्ठारूप मति (२६), ज्ञानोत्पत्ति के कारण आयमान तत्त्वावबोधरूपी विबोध, भगवदवाप्ति में औत्सुक्य (३०)

टिप्पणी — कोष्ठक में दिये हुए अक्षर पंक्तियाँ के शेषक हैं। Digitized by S3 Foundation USA

आदि सञ्चारी भाव हैं। साथ ही 'धिगणुचिमविनीतम्' (४७) इस उक्ति में व्यक्त त्रपा, नित्यकैङ्कर्य में प्रहर्ष, गुणगान में रुचि, आलम्बन से विरह की दुःसहता में अभिव्यक्त त्रपा-विवर्णता-वेषथु-पुलक अश्रु आदि सात्त्विक भाव भी अभिलक्षित होते हैं। उक्त विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारिभावों के संयोग से और सात्त्विक भावों से परिपोषित कविगत श्रीमन्नारायणविषयक स्थायी रतिरूप भाव भक्ति रस में परिणत हो भावुक सहृदय भक्त को मधुर रसास्वाद द्वारा अलौकिक (लोकोत्तर) आनन्द की दिव्य परिधि में प्रवेश करा देने वाली यह रचना रसप्रधान, उत्तमकोटि में निस्सन्देह गणनीय, खण्डकाव्य के रूप में ग्रथित एक हृदयङ्गम कविनिर्मिति है।

प्रस्तुत काव्य के नेता का एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है और उसकी सिद्धि होने पर परमपुरुषार्थ की अवाप्ति ही फल है जिसका स्वामी स्वयं कवि ही है। अतः फल पर अधिकार<sup>१</sup> श्री यामुन का होने से वे ही अधिकारी हैं और उनका चरित, तत्कृत भगवद्गुणगान आदि सब

१. फलस्वाम्यमधिकारः — धनिक।

आधिकारिक वस्तु है। प्रसंगवश अपने पूर्वज नाथमुनि की भगवद्भक्ति, भगवान् के पूर्वचरित तथा कृतोद्धार पामर जीवों का उल्लेख सब आनुषङ्गिक कथानक है जिन्हें प्रासङ्गिक वृत्त कहा जा सकता है। भक्त नायक निस्सहाय एकाकी अपने प्राप्य अधिनायक से साक्षात् अपनी अभ्यर्थना प्रस्तुत कर रहा है अतः इस काव्य में प्रासङ्गिक इतिवृत्त न होने से सहायक अर्थप्रकृति का अभाव है। यों भी खण्डकाव्य होने से पाँचों कार्यावस्था तथा अर्थप्रकृति का समग्र रूप से होना सम्भावित नहीं है। अतः नायक श्रीयामुनाचार्य के अन्तःकरण में वाञ्छित प्राप्ति के प्रति तीव्र लालसा से कार्यारम्भ प्रारम्भ होकर भगवान् से दयनीय प्रार्थना द्वारा अनुनय यत्न की अवस्था उपस्थित करता है। भगवान् की भक्तवत्सलता तथा पामर जीव को भी महाप्रसाद की प्राप्ति से जन्य, तथा अपनी अदृष्ट श्रद्धा एवं साधना पर आत्मविश्वास के कारण फल प्राप्ति की निश्चितता नायक को हो जाने से कार्य की तृतीयावस्था नियताप्ति रूप में अभिलक्षित होती है। इस तरह प्रस्तुत खण्डकाव्य की वर्ण्य वस्तु का परिपोष भली भाँति पाया जाता है।



नायक तथा उसका आलम्बन — जैसे ऊपर कहा जा चुका है प्रस्तुत काव्य के नायक भक्त कवि आचार्य श्री यामुन हैं जो सत्कुलोत्पन्न विप्रकुलाधतम विवेकी पुरुष हैं। उनकी मनोवृत्ति में यत्रतत्र यद्यपि लक्ष्य-सिद्धि के प्रति औरमुख्य का अतिरेक है, तथापि वे अधीर नहीं हैं। स्वभाव में विनय है, विवेक है, कार्य-निष्ठा है। अतः वे धीरप्रशान्त उत्तम प्रकृति अदिव्य नायक हैं। उनका आलम्बन स्वयं अखिलकोटिब्रह्माण्डाधीश जगन्नायक भगवान् नारायण परम दिव्य विग्रह है, अतः समस्त कल्याणगुण से सम्पन्न अलौकिक अधिनायक काव्यवस्तु का द्वितीय आलम्बन विभाव है। शरणागत दास और उसके अधिपति का साक्षात् अनुनय-विनय होने से अन्य किसी पात्र का अस्तित्व निरवकाश है। यहाँ उभय आलम्बन — एक अदिव्य और दूसरा दिव्य होते हुए भी, — उच्चकोटि के आदर्श हैं।

रस - भाव - ध्वनि — वस्तु और नेता के अतिरिक्त काव्य का तृतीय घटक भावामिव्यक्ति तथा रस-परिपाक होता है। इस दृष्टि से

१. वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः (विशेषः)।

भी आलोच्य काव्य की गरिमा सविशेष है। जैसा उपरि निर्देश किया जा चुका है प्रस्तुत काव्य में स्थायी भाव देवविषयक रति है। परन्तु यह रति सेव्य-मेवक भाव से अनुप्राणित है। अतः उभय आलम्बन के मध्य तुल्य-श्रेणिक सम्बन्ध न होने से वही रतिरूप स्थायी भाव विभिन्न स्वरूप ग्रहण कर चमत्कार का पोषक होता है — यथा — भक्त नायक गत श्रीमन्नारायण-विषयक स्थायी रति श्रद्धा एवं स्वामिभक्ति का स्वरूप लेकर आनन्द-सान्द्रता से ओत-प्रोत हो मधुर रस में परिणत हो जाती है; और सेव्य कोटि में वर्तमान द्वितीय आलम्बन श्रीमन्नारायण की नायक के प्रति रति अपने कल्याण गुणों से परिपुष्ट हो प्रेमा का स्वरूप लेकर वात्सल्य रस में परिणत हो जाती है। अत एव एकतः भक्ति रस तथा अन्यतः वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति प्रधान रूप से काव्य को सरस बनाती है। वात्सल्य का स्थायी भाव प्रेमा है जो आश्रित के प्रति स्नेह, पक्षपात, आश्रित के दोषों की अनवस्था, उसके प्रमाद के प्रति सहानुभूति तथा उस पर दया-दाश्रिण्य-क्षमा रूप अवयवों से घटित होता है। एक ओर अविचल भक्तिभाव दूसरी ओर प्रेम-उद्धार वात्सल्य के रूप में परिणत रतिभाव क्रमशः यहाँ

घृतसम<sup>१</sup> स्नेह में परिणत होता है जो संसार सागर के प्रवाह में पतित होने पर भी तप्त घृतबिन्दु के समान धनीभूत होकर एकत्र अवस्थित हो जाता है । यह घृतसम स्नेह नायक गत रतिभाव को गहरे रंग से रञ्जित कर देता है, दिनोंदिन वह राग स्थिर एवं भास्वर होता जाता है, छूटने का नाम नहीं लेता । ( इसे ही दार्शनिक लोग अविचल अव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं ) । अत एव यहाँ नायक का आलम्बनविषयक राग माञ्जिष्ठ राग में निखर आता है जो कभी च्युत न होकर अधिकाधिक उज्ज्वल ( शुद्ध-सत्त्व-सम्पन्न ) रूप ग्रहण करता है — कहा है “तदेव माञ्जिष्ठो यन्नापैत्यतिशोभते” । यहाँ यद्यपि यह एकनिष्ठ दृढ राग है तथापि वह साक्षात् रूप से विप्रयोगात्मक है । नायकगत रति विप्रलम्भरूपा है, अपने अभिलषित आलम्बन से साक्षात् संयोग से दूर है, विरह की भावना

१. इसके विपरीत मधुसम स्नेह होता है जो जलाशय में गिरते ही तितर-बितर हो जाता है । तप्त घृत का बिन्दु जल में गिरते ही धनीभूत होकर एकत्र जम जाता है ।



नायक को दुस्सह है ( क्षणेऽपि ते यद्विरहोऽतिदुस्सहः — ५६ ), वह अपने आपको अपने सर्वस्व आलम्बन पर न्योछावर करता है ( ५३ ), आलम्बन के नित्यकैङ्कर्य के प्रहर्ष के लिये उत्कण्ठित है ( ४६ ) और उसके गुणाख्यान एवं सौन्दर्य के अनुष्ठान द्वारा अग्नी विह्वलता को भुलाकर परिसान्त्वना प्राप्त करता है । तत्रापि अपने विशुद्ध सात्त्विक धृतसम स्नेह के बल उसमें प्रगल्भता भी साथ साथ विद्यमान है और नायक प्रणति, अनुनय एवं विनय के साथ उपालम्भ देने में भी नहीं चूकता ( पद्य १०, २४, २५, ५०, ५१, ६४ ) और अन्ततः अपने उद्धार का समस्त भार उन पर छोड़कर निर्भर हो ( ६२ ), अपने आराध्य की परिचर्या में एकनान हो व्यापृत हो जाता है ।

**एक विश्लेषण** — पद्य १-६ में क्रमशः अपने पितामह भक्तिसागर श्रीनाथ-मुनि, पराशर मुनि तथा वकुलभूषण कुलगुरु शठकोप स्वामी के प्रति श्रद्धापूर्वक प्रणाम से अभिव्यक्त गुरु विषयिणी रति (श्रद्धारूपा) का उन्मेष है । ये पद्य नमस्कारात्मक मञ्जुलाचरणस्वरूप हैं । पद्य ७-९

में कवि द्वारा अपनी क्षुद्रशक्ति का वर्णन कर विनीत भाव प्रकट किया गया है ।

पद्य १०-१२ तक आलम्बन की महिमा, पद्य १३-१५ में भगवान् के पूर्ण पराक्रमों का अनुस्मरण, तत्पश्चात् १६ में निगूढता का, १७ में विभूति का, १८ में सहज गुणों का, १९ में गुणगरिमा का, और २० में लीलाविभूति का वर्णन कर भक्त की निष्ठा का प्रवृत्तिनिमित्त गुणाख्यान द्वारा प्रकट किया गया है । वह भक्त के चित्त में आलम्बन के प्रति आकर्षक विलोभन का बीज है [ गुणाख्यानं विलोभनम् ]— जो आरम्भ नामक कार्यावस्था का मुख्य अङ्ग है । तत्पश्चात् २१ में विलुब्ध नायक प्रणाम द्वारा अपने प्रह्वीभाव को प्रकट कर, अपनी क्षुद्रता को २३-२४ में बताकर, २६ में दृढता और २७-२८ में दृढता का हेतु प्रकट कर २९ में आलम्बन के औदार्य का उल्लेख करता है । तत्पश्चात् साक्षात् संयोग की तीव्र उत्कण्ठा और उसके बीज आलम्बन के स्वरूप-सौन्दर्य का ३२-३६ तक वर्णन है । अनेक भक्तोपकारी कल्याणगुणों का स्मरण कर नायक आलम्बन के दिव्य चरणों में आत्मसमर्पण तथा अपने पितामह की अनन्य भक्ति के

स्मरण द्वारा अपने उद्धार के अधिकार की प्रवसता ( claim based on ancestral devotion & services ) को प्रस्तुत कर भगवत्प्राप्ति रूप निज अभिलाषा को हृदयद्रावि रूप में प्रकट कर कवि अपनी रचना की परिसमाप्ति करता है ।

**गुण-अलङ्कार** — प्रबन्ध में नायक की वृत्ति आद्योपान्त सात्वती होने से शुद्ध सत्त्वनिष्ठ भावों के अनुरूप रचनागत माधुर्य एवं ओज प्रधान गुण हैं । ओजस्वी बन्ध के अनुरूप समासबहुला पदघटना प्रायशः पायी जाती है, परन्तु जहाँ जहाँ नायक अपनी दीनता एवं निस्सहाय स्थिति का वर्णन करता है वहाँ “न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके” ( पद्य २३-२४-२७-४८, ६० ) जैसे पद्यों में प्रसाद गुण तथा कोमला वृत्ति दिखायी पड़ती है । अतः स्थान स्थान पर पाञ्चाली एवं वैदर्भी रीति के निदर्शन होते हुए भी प्रधानतः व्यापक रूप से गौड़ी रीति में ही रचनाक्रम निबद्ध है । सर्वत्र अपने आलम्बन के स्वरूपसौन्दर्य के तथा गुणगरिमा के वर्णन में कवि ने कविसमयानुसारी उपमानों के साथ सादृश्य एवं अभेद स्थापित कर



उपमा<sup>१</sup> एवं विशेषतः रूपक<sup>२</sup> अलङ्कार को प्रश्रय दिया है। आलम्बन के अलौकिक चरित्रचित्रण में उदात्त तथा अपने भावों के उद्बोधन में भाविक अलङ्कार सहृदय के लिये हृदयहारी हैं।

‘तवामृतस्यन्दिनि’ पद्य में प्रतिवस्तूपमा, “न मातुश्चरणौ जिहासति” पद्य में दृष्टान्त,<sup>३</sup> पद्य ५६ में व्यतिरेक तथा पद्य १० में तर्क एवं पद्य १२ में आंग्ल साहित्य शास्त्र के अनुसार प्रश्न (काकु) = Interrogation, वेदापहारगुरुपातक-<sup>०</sup>....., तथा “रघुवर यदभूस्त्वम्” (६३) पद्य में पूर्व अपदान के वर्णन में स्मरणालङ्कार<sup>४</sup> रचना के शोभादायक धर्म हैं। वाक्यान्वय पर आधारित यत्र तत्र तुल्ययोगिता एवं दीपक अलङ्कार, शब्द-सौष्ठव के घटक छेक, श्रुति एवं वृत्ति अनुप्रास प्रायेण सर्वत्र कवि की काव्यनिर्माण सामग्री की प्रचुरता को सिद्ध करते हैं।

१. देखो पद्य ९, ३२।

२. „ पद्य १७, १८, २४, २९, ३०, ४५, ४९, ५८, ६०, ६५।

३. „ पद्य ८, २६

४. „ पद्य १३, १४, ४२, ६३, ६५

**भाषा-शैली** — यह खण्ड-काव्य भावगम्भीर सरस शैली में संस्कृत में उपनिबद्ध पद्यात्मक प्रबन्ध है । पद्यों के वृत्तों के चयन में श्री यामुनाचार्य ने परम कुशलता अपनायी हैं । सर्वविदित है कि श्रीश्च मिथुन में से व्याध के एक की निर्मम हत्या पर विलखते हुए निस्सहाय जीव को देख शोकग्रस्त भगवान् वाल्मीकि के मुख से सहसा एक अष्टाक्षरी चतुष्पदी निकल पड़ी और तब से संस्कृत श्लोक ( अपरनाम पद्य ) का आविर्भाव हुआ [ शोकः श्लोकत्वमागतः ] । जब श्री यामुनाचार्य संसार के क्लेश से पीड़ित हो, अपने आप को निस्सहाय पाकर शोकाकुल अवस्था में एकान्त शरणागत हो भगवान् के सम्मुख अपनी विह्वलता को प्रकट करने लगते हैं और तदर्थ अपने पूर्वज पुण्यनामा श्री नाथमुनि का सर्वप्रथम स्मरण करने के लिये जब प्रस्तुत होते हैं तब अनायास वे उसी शोकातुर वाल्मीकि के द्वारा उद्धावित श्लोक से ग्रन्थारम्भ करते हैं । [ ध्यान रहे पूरी रचना में कवि ने एक ही बार इस छन्द का प्रयोग किया है । ] तदनन्तर आन्तरिक व्यथाके सूचक तगण से प्रारम्भ होने वाले वसन्ततिलका छन्द द्वारा श्रद्धेय जनों को प्रणाम कर ( २-८ ) भगवच्चरणारविन्द की स्तुति के लिये प्रस्तुत होते

हुए अपनी अशक्ति के उपर खेद प्रकट करने के हेतु वे उसी वृत्त को (९-१०) अपनाते हैं। भगवान् आराध्य देव की अलौकिकता और उनको पराक्रमों के अद्भुत स्वरूप को बताने के लिये उदात्त वर्णन के हेतु कवि-समादृत शक्वरी वर्ग के उसी वसन्ततिलका का अनुसरण २० पद्य तक करते हैं। नमस्क्रिया के लिये एक वंशस्थ के पश्चात् अपनी अनन्यगति एवं शिशुसम असहायता द्योतित करने के लिये "बाला" नामक उपजाति का, और अनुपद भगवान् के सम्मुख वरुण क्रन्दन करते हुए उनके चरणों में निरत होने के भाव को व्यक्त करने के लिये 'रामा' नामक उपजाति का, और फिर अपनी योग्यता को विशेषित करने के लिये सुप्रथित "उपेन्द्रवज्रा" का, और 'शरणागत का आपके हाथों सदा विजय प्राप्त होता है' - इस भाव को अभिव्यक्त करने के लिये "जया" नामक उपजाति का मार्मिक प्रयोग कर पुनः वंशस्थ द्वारा भगवद्गणगरिमा का गान करते हुए उनके सान्निध्य प्राप्ति के लिये अपने ओत्सुक्य को २१ पद्यों (२६-४६) में अभिव्यक्त करते हैं। आचार्य एक ओर इतने ऊँचे स्थान पर आने की उत्कण्ठा और दूसरी ओर अपनी अनुपम हीनता को देख अपनी



निलैज अभिलाषा की दयनीयता को व्यक्त करने के लिये कारुण्य-प्रवाही  
 “मालिनी” छन्द का सहज उपयोग कर बैठते हैं। परन्तु भगवद्वियोग की  
 दुःसहता की क्लेशकदमल धारा में बहता हुआ कवि का आर्द्र हृदय “वियोगिनी”  
 के स्वर में प्रस्फुटित होने ( ५०-५५ ) लगता है; तदनन्तर अपनी आस्था  
 के बल किञ्चिद् धीरता धारण कर वंशस्थ का सकृत् प्रयोग कर कवि अपने  
 भावावेश में कुछ सम्हलता है और तत्पश्चात् मालिनी के तुल्य आर्द्र शिखरिणी  
 एवं मालिनी द्वारा ( ५६-६३ ) अपनी दयनीय दशा को भगवत्सम्मुख  
 प्रबल हड़ता के साथ उपस्थित करता हुआ भावुक कवि “सब पर आपकी  
 दया हुई है तो क्या आपकी दीनदयालुता के व्रत की परिधि में मुझ  
 अकिञ्चन को ही अवकाश नहीं है ?”—इस तरह उपालम्भपूर्वक “प्रतिरुद्धय  
 प्रपत्ति” की प्रबलता को उपेन्द्रवज्रा द्वारा प्रकट करते हुए श्री यामुनाचार्य  
 “भगवान् मेरा उद्धार मेरे पूर्वजों की भक्ति को मान्यकर अवश्य करेंगे”  
 और मुझे महाप्रसाद की समृद्धि निश्चित प्राप्त होगी इस आशंसा को  
 “सृष्टि” वाक्य छन्द से व्यक्त कर अपनी रचना को समाप्त करते हैं।

इससे सहृदय को प्रतीत होगा कि श्री यामुनाचाय को कवित्व-शक्ति एवं भावोद्बोधन की शैली कितनी मार्मिक एवं हृदयहारिणी है। ऐसी सर्वत्र हृदयङ्गम शैली के बीच पद्य ११ के तृतीय चरण के अन्त में 'स्वराडित्ये' पद में यतिमङ्गल जनित हतवृत्तता पद्य के पाक के स्वरूप मात्रका परिचय कराती है।

**पाक** — काव्यशास्त्र में समग्र रचना के अन्तर्गत अर्थ-गम्भीरता को पाक कहते हैं जो रसिक के रसास्वादन की विभिन्नता पर आधारित होती है और कवि की सफलता का माप-तौल करती है। इस दृष्टि से भी श्रीयामुनाचार्य की कृति उच्चकोटि की है। समग्र प्रबन्ध में भावुक भक्त को भगवद्भक्ति का जो अनुपम रसास्वादन प्राप्त होता है वह डाल पर पके हुए, रस झरते अंगूर के आस्वाद को देने वाला है। अतः यहाँ प्रबन्धगत मृद्वीका (द्राक्षा) पाक है। बीच बीच में हरिविक्रम के वर्णन प्रसङ्ग में अनेक पौराणिक संदर्भ के स्मरण में सहृदय को पद्य १३-१४ में छिलका हटाने पर ही मधुर आस्वाद को देने वाला कदली पाक पद्य १७ और १९ में नारियल के कठोर भाग को फोड़ने के महाप्रयास से तनिक पेय पाने की

भाँति आयासकर रचना के कारण नारिकेल पाक ( वस्तुतः बदर पाक ) की विभिन्नता सर्वत्र मृद्वीका पाक की मधुरिमा के रसास्वादन को उत्तेजित करने वाले व्यंजन की भाँति सहृदय की रुचि (appeal) को प्रसाचित करती है ।

**दार्शनिक तत्त्व** — यह निश्चित है कि श्रीयामुनाचार्यजी उनके पितामह विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रवर्तक श्रीनाथमुनि एवं भगवान् रामानुजस्वामी से पूर्ववर्ती दार्शनिक थे । वस्तुतः भगवान् रामानुज ने श्रीयामुनाचार्यजी से ही प्रेरणा पाकर विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिष्ठापन किया । अत एव यह साहजिक ही है कि श्रीयामुनाचार्य ने अपने दार्शनिक ग्रंथ 'सिद्धित्रय' में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उन्हीं सिद्धान्तों से अनुप्राणित उनकी अनुपम भावुक कृति 'स्तोत्ररत्नम्' भी हो ।

इस दृष्टि से देखा जाय तो, आळवन्दार स्तोत्र में सिद्धान्त की सभी बातें हैं । तत्त्वत्रय की चर्चा "विश्वं विचित्रचिदचित्प्रविभागवृत्तम् ( १२ ) में उपलब्ध होती है । वहीं चिदचिदात्मक विश्व का उल्लेख कर पुण्डरीकाक्ष



है। वह ईश्वर सर्वसामान्य को दृष्टिगोचर नहीं होता इसका कारण भी बताया गया है कि उसने अपनी माया के बल से अपने रूप को अगोचर बना रखा है ( १६ )। वही नारायण परम पुरुष हैं, प्रधान ( प्रकृति ) उसका गुणमात्र है ( १७ )। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार सब भगवान् की लीलाविभूतिमात्र है ( २० )। वह परात्पर ब्रह्मस्वरूप है ( १७ ), वशी है, उदार हैं, गुणवान हैं, स्वभावतः भक्त के कार्यकारी समस्त कल्याणगुण का सागर है ( १८ ) वह अवाङ्मनसगोचर है ( २१ )। वह शंख-चक्र-धारी, परम सुन्दर, पीताम्बर, श्याम उज्ज्वल रूप, दिव्य आभूषण, तुलसी वनमाला से सुशोभित अलौकिक विग्रहवान् ( ३८-३९ ) है। भगवती पराम्बा महालक्ष्मी उसकी नित्यानपायिनी शक्ति ( ४५ ) है जिसका स्वरूप अचिन्त्य, दिव्य एवं अद्भुत है। वह भक्तवत्सला है, शरणागत के सब दोषों की उपेक्षा कर उसका उद्धार करने वाली है। अतः संसार के समस्त क्लेश से मुक्त होने का एकमात्र साधन प्रपत्ति है जिसे एक बार ही स्वीकार कर ( ६४, २८ ) जीव निर्भय हो सकता है। वही शरणागत की रक्षा करता ( २४ ) है। श्रीयामुनाचार्य ऐसे अशरण के शरण

भगवान् को अपने उद्धार का एकमात्र साधन समझ उसके शरण में अपने आपको अनन्य भाव से समर्पण करते ( २२, ५२ ) हैं। वह अपने आपको भगवान् का शेष ( दास ) समझते हैं ( ५७ ); और भगवान् के दिव्य स्वरूप के साक्षात्कार के लिए उत्कण्ठित ( ३० ) हो उनके नित्यकैङ्कर्य में निरत होने की अपनी लालसा बारम्बार व्यक्त करते हैं ( ४६, ४७, ६२ )। भवदीयता के साथ साथ भगवान् की भक्ति प्रदान कर उन्हें स्वीकार करें ( ५४ ) इस तरह वह स्वगत स्वीकार की अपेक्षा परगत स्वीकार का अवलम्बन कर अद्भुत रूप प्रपन्न बनते हैं। वह भगवान् के द्वारा दिये हुए ' अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ' इस चरम श्लोक में कृत भगवत्प्रतिज्ञा का स्मरण कर, अवश्य भगवान् मुझ पर अनुकम्पा करेंगे ( ६४ ) इस विश्वास से भगवद्विरह की दुःसाहता के कारण आशु प्राप्ति के लिए आतुरता प्रकट करते हुए भी ( ५६ ) अपने आपके उद्धार का पूरा भार " तवैवास्मि हि भरः ( ६० ) " भगवान् को सौंप कर, अभी या जन्मान्तर के पश्चात् ( ५५ ) जब कभी भगवान् अपने नियतस्व ( ५३ ) मुझे सायुज्य प्रदान करें — मैं तो आपके गुणगण का चिन्तन करता हुआ निर्भय

(गतभी; - ५८) होकर रहता हूँ — इस भावना से दत्तप्रपन्न के रूप में मोक्षाकांक्षी है ।

इस तरह तत्त्वत्रय, ईश्वर का शेषित्व, लीलाविभूति से जगत्कर्तृत्व बताकर, श्री से सदा सहगत, प्रपन्न शरणागत के समस्त पाप हरण कर सायुज्य मुक्ति के दाता वे ही हैं और प्रपत्ति ही मुक्ति का साधन है — ये सभी सिद्धान्त सरसता के साथ यहां प्रतिपादित हैं ।

**निष्कर्ष** — उपर्युक्त विश्लेषण से यह नितान्त स्पष्ट है कि महामहेश्वर्यशाली करुणानिधि अखिलब्रह्माण्डाधीश वैकुण्ठपति श्रीमन्नारायण के अनुपम औदार्य से अनुप्राणित एवं अधर्षणीय विचारालय में स्वयंकृत सुकृतों का क्षीण आश्रय होते हुए भी, परमप्रपन्न अपने पूर्वजों की अनन्य एवं मान्य सेवावृत्ति के प्रबल आनुवंशिक अधिकार के आधार पर तथा परम पामर, निकृष्टतम अपराधों के कारण उग्रदण्ड के पात्र वायस को रामावतार में तथा चेदिराज को कृष्णावतार में क्षमा प्रदान कर सायुज्य देने के स्वयंकृत पूर्व निर्णय (mandatory precedents) का उल्लेख कर, चरमश्लोक में विहित शरणागत को सकल अर्थों से मुक्त करने के नियम के अन्तर्गत अपने



उद्धार के वाद को (suit) श्रीयामुनाचार्य एक सफल अधिवक्ता की भांति प्रस्तुत कर अपनी भावभीनी भङ्गिमा से 'कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्त' सर्वेश्वर से करुणा (mercy) की प्रबल याचिका (petition) स्तोत्र-रत्न में प्रस्तुत कर अपनी रचना के नाम को निस्सन्देह चरितार्थ करते हैं जिसके अर्थानुसन्धान सहित नित्य पाठ के द्वारा तादृश भक्तिभावना से शरणागत हो, अपने सञ्चित कर्मों के फलोपभोग से मुक्त हो, साधारण से साधारण जीव भी अपने नरजन्म को कृतार्थ कर सकता है — यही सत्पथप्रदर्शन स्तोत्र रत्न की महिमा है, जो काव्यरसास्वाद से इह लोका, तथा प्रपत्ति से परलोक में परमानन्द का लाभ कराने में अद्वितीय है ।

\* \* \*

वरदवल्लभा स्तोत्रम् — यह एक छोटी सी रचना है परन्तु परम श्रेय की साधिका है । इसकी पुष्पिका (Colophon) में, तथा इतर सन्दर्भों में भी कहीं भी इसके रचयिता का उल्लेख न होने से, इस स्तोत्र का प्रणेता कौन यह अभी भी अनुसन्धान का विषय है । जिस किसी की

भी यह कृति हो इतना निश्चित है कि यह किसी सिद्ध प्रपन्न महात्मा की रचना है जिसने आराधना के मर्म को समझकर 'श्रीमन्नारायण के अनुग्रह को पराम्बा महालक्ष्मी के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है' इस तत्त्व को बूझकर "वरद" = अभीप्सित महाप्रसाद रूपी वर को प्रदान करने वाले श्रीमन्नारायण की वल्लभा, नित्यानपायिनी शक्ति महालक्ष्मी की उपासना केवल पञ्च पद्यात्मक इस स्तोत्र में प्रस्तुत की है। इन पाँच पद्याँ में सर्वप्रथम पुरुषोत्तम की दयिता के ऐश्वर्य का वर्णन कर, उसके गुणगण की गणना उसके प्रिय नारायण द्वारा भी अशक्य दिखाकर भक्त उसकी वत्पलता पर भरोसा रख प्रसन्न हो निर्भय स्तुति करता है। आगे चलकर जगत्कल्याण की एक मात्र साधिका भगवती को दिखा कर वैष्णव मार्ग के अनुयायी के लिये श्रेयस्कर पराम्बा महालक्ष्मी के अनुग्रह प्राप्ति के सिवा और कुछ नहीं है यह भाव व्यक्त कर अशेष जगत् की स्वामिनी श्री को प्रणाम करता है।

इस प्रबन्ध की उपास्य देवता भगवती महालक्ष्मी है अतः भक्तगत महालक्ष्मीविषयक रतिरूप स्थायी भाव है जो भक्त के अनुनयरूप अनुभाव से तथा भगवदाप्ति की उत्कण्ठा रूप सञ्चारी भाव से परिपोषित हो

भक्तितरस की अभिव्यक्ति करता है, साथ ही पराम्बा का भक्तविषयक करुणापूर्ण वात्सल्य को भी प्रकट करता है। इस रचना की भाषा प्रौढ़ है, पद्य १-४ शार्दूलविक्रीडित वृत्त की ओजस्विता तथा अन्तिम पद्य श्लोक में भक्त के प्रह्वीभाव का निदर्शन मार्मिक रूप से किया गया है। "भगवतो श्री भगवान् नारायण के हृदयपटल पर सदा विराजमान माया शक्ति, भक्त को भगवान् के सान्निध्य में ले जानेवाली, उपासनाक्रम में प्राथम्य को पाने वाली, नारायण के साथ शेषित्व की समभागिनी प्रपन्न की उपास्य विभूति है" इस श्रीवैष्णव सिद्धान्त को यह रचना प्रतिपादित करती है। इस रचना में ओजोगुण प्रधान है। रचना गौडी रीति में निबद्ध है।

यह भी श्री वैष्णव सम्प्रदाय में नित्य प्रबन्ध-पाठ के अन्तर्गत है तथा इसका स्थान उपासनाक्रम में महत्त्व का है।

**रामानुजचतुःश्लोकी** — यह भी एक लघुकाय केवल चार मालभारिणी (ओपच्छन्दसक) वृत्तों में किसी अज्ञात सिद्ध श्रीवैष्णव द्वारा रचित भगवान् शेषावतार दाशरथी रास के अनुज श्री लक्ष्मण का ही



स्वरूप अतएव यथार्थरूप रामानुज नाम से विश्रुत, भाष्यकार स्वामी भगवान् रामानुज के दिव्य चरित का संक्षेप से वर्णन करनेवाली रचना है। प्रथम पद्य में सद्गुरु रामानुज की सेवा दास को अनेक विभूति से सम्पन्न करती है इस आशय का, दूसरे और तीसरे श्लोकों में, भगवान् रामानुज द्वारा अन्य मत के तर्कों का खण्डन कर सन्मार्ग प्रदर्शन करने का गौरव का ख्यापन है। अन्तिम पद्य में भगवद्रामानुज प्रणीत श्रीभाष्य की महत्ता का उल्लेख कर चारों पद्यों में भाष्यकार स्वामी का जय जयकार कर उनके प्रति प्रणति एवं निष्ठा की अभिव्यक्ति है। रचना मधुर है।

इस रचना में सम्प्रदाय प्रवर्त्ताक जगद्गुरु भगवद्रामानुज विषयक भक्तगत रतिस्थायी भाव से परिणत गुरुभक्ति प्रधान तत्त्व है। गुरु परम्परा में इसके नित्य अनुसन्धान का महत्त्व है।

॥ श्रीः ॥

॥ श्रीमते वेङ्कटेशाय नमः ॥



नित्याय निरवद्याय सत्यानन्तचिदात्मने ।  
सर्वान्तरात्मने श्रीमद्वेङ्कटेशाय मङ्गलम् ॥





॥ श्रीः ॥



श्रीमते रामानुजाय नमः

# 卐 आळवन्दार-स्तोत्रम् 卐

[ पद्यम् ]

स्वादयन्निह सर्वेषां त्रय्यन्तार्थं सुदुर्ग्रहम् ।

स्तोत्रयामास योगीन्द्रस्तं वन्दे यामुनाह्वयम् ॥ १ ॥

इस जगत् में अत्यन्त कठिनाई से समझ में आने वाले वेद-राशि के तात्पर्य को सर्वसाधारण की बुद्धि में सुगमता से समानेवाले रुचिकर स्तोत्र के रूप में जिन योगिराज यामुनाचार्य ने उपस्थित किया, उन्हें मैं प्रणाम

करता हूँ ॥१॥

नमो नमो यामुनाय यामुनाय नमो नमः ।

नमो नमो यामुनाय यामुनाय नमो नमः ॥ २ ॥

उन आचार्य यामुनमुनि को मेरा बारम्बार श्रद्धापूर्वक  
प्रणाम है ॥ २ ॥

नमो यामुनपादाब्जरेणुभिः पावितात्मने ।

विदिताखिलवेद्याय गुरवे विदितात्मने ॥ ३ ॥

भगवान् यामुनाचार्य के चरण-कमल की रज से पवित्र अन्तरात्मा से  
सम्पन्न, समस्त ज्ञेय-वस्तु को पूरी तरह समझे हुए, एवं आत्म-परमात्म-  
ज्ञान की वास्तविकता से परिचित अपने आचार्य को भी मैं प्रणाम  
करता हूँ ॥ ३ ॥

## अथ स्तोत्र-रत्नम्

[ पद्यम् ]

नमोऽचिन्त्याद्भुताक्लिष्ट-ज्ञानवैराग्यराशये ।

नाथाय मुनयेऽगाधभगवद्भक्तिसिन्धवे ॥ १ ॥

अगम्य एवं अलौकिक निर्दोष ज्ञान और वैराग्य के पुञ्ज  
एवं भगवान् श्रीमन्नारायण की भक्ति के अथाह समुद्र रूप  
आचार्य नाथमुनि को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

१. भगवद्भन्दनं खाद्यं गुरुवन्दनपूर्वकम् ।

क्षीरं शर्करया युक्तं खदते हि विशेषतः ॥ [ स्तोत्ररत्नभाष्यम् १. ]

प्रथम गुरु वन्दन करके तत्पश्चात् किया हुआ भगवद्भन्दन विशेष स्वादु होता

है जैसा शर्करा मिला हुआ दूध ।



[ वसन्ततिलकम् ]

तस्मै नमो मधुजिदंघ्रिसरोजतत्त्व-

ज्ञानानुरागमहिमातिशयान्तसीम्ने ।

नाथाय नाथमुनयेऽत्र परत्र चापि

नित्यं यदीयचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥ २ ॥

मेरे परमगुरु नाथमुनि को मैं पुनः प्रणाम करता हूँ । वे भगवान् मधुसूदन के चरण-कमल की महिमा के यथार्थ ज्ञान तथा उनके प्रति दृढ़ अनुराग से उत्पन्न महिमा के उत्कर्ष की मानो सीमा है । उनके चरण-युगल मेरे लिये इहलोक तथा परलोक में एकमात्र आधार हैं ॥ २ ॥

[ वसन्ततिलकम् ]

भूयो नमोऽपरिमिताच्युतभक्तितत्त्व-  
ज्ञानामृताब्धिपरिवाहशुभैर्वचोभिः ।

संयमियों में श्रेष्ठ उन श्रीनाथ मुनि को मैं पुनः  
प्रणाम करता हूँ जो अपार भगवद्भक्ति तथा तत्त्वज्ञान रूपी सुधा-  
समुद्र के प्रवाह के समान अपनी शुभवाणी के कारण ऐसे प्रतीत  
होते थे कि मानो भगवत्प्राप्ति के साधनस्वरूप समग्रभक्तियोग<sup>१</sup>

- 
१. भक्तियोग से तात्पर्य है "भक्तियोगः परैकान्तप्रीत्या ध्यानादिषु स्थितिः"  
अर्थात् अनन्य प्रेम से भगवान के ध्यान में मन लगाना ही भक्तियोग है ।

[ -श्री यामुनाचार्य-गीतासंग्रह । ]

लोकेऽवतीर्णपरमार्थसमग्रभक्ति-

योगाय नाथमुनये यमिनां वराय ॥ ३ ॥

ही जगत्-कल्याण के हेतु इस लोक में श्रीनाथ मुनि के रूप में अवतीर्ण हुआ है। [ श्रीनाथ मुनि मानो मूर्तिमान् भक्तियोग ही थे ] ॥ ३ ॥

- 
१. तुलना करें - "रामो विग्रहवान् धर्मः" अर्थात् श्रीरामचन्द्र मानो मूर्तिमान् धर्म ही है।



[ वसन्ततिलकम् ]

तत्त्वेन यश्चिदचिदीश्वर-तत्स्वभाव-

भोगापवर्ग-तदुपायगतीरुदारः ।

सन्दर्शयन् निरमिमीत पुराणरत्नं

तस्मै नमो मुनिवराय पराशराय ॥ ४ ॥

उन मुनिश्रेष्ठ तथा उदारचेता पराशर मुनि को मेरा प्रणाम है जिन्होंने ऐसे पुराणरत्न विष्णुपुराण की रचना की जिसमें चित्, अचित् तथा ईश्वर का स्वरूप, भोग तथा मोक्ष और इनकी प्राप्ति के उपाय का विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया है ॥ ४ ॥

[ वसन्ततिलकम् ]

माता पिता युवतयस्तनया विभूतिः

सर्वं यदेव नियमेन मदन्वयानाम् ।

हमारी (आचार्य) परम्परा के आद्य आचार्य, श्री शठकोप के बकुल (= मौलश्री) पुष्पों से सुशोभित चरणद्वय की मैं नत-मस्तक हो वन्दना करता हूँ, जो (चरणद्वय) मेरे वंशजों के लिये

१. बकुलपुष्प = *Mimuscope Elengi*

श्री शठकोप आळ्वार को बकुल पुष्प बहुत प्रिय था ऐसा प्रतीत होता है : बकुल भूषण, बकुलामोदवासित ऐसे उनके विशेषण यत्र तत्र पाये जाते हैं, यथा —

यस्य सारस्वतं स्रोतो बकुलामोदवासितम् ।

श्रुतीनां विश्रमायाऽलं चकारि तमुपासहे ॥ [ श्रीयतिराजसप्ततिः ]

आद्यस्य नः कुलपतेर्वकुलाभिरामं

श्रीमत्तदंग्रियुगलं प्रणमामि मूर्ध्ना ॥ ५ ॥

निश्चितरूप से माता, पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्री, ऐश्वर्य और सब कुछ रहे हैं ॥ ५ ॥

कृष्ण के प्रति लालसा ही मानो भी शठकोपमुनि अथवा नम्माळ्वार के रूप में अवतार लेकर भूलोक में आयी थी ।

टिप्पणी — तमिल भाषा में 'सहस्रगीति' नाम से सुप्रसिद्ध दिव्य प्रबन्ध के साक्षात्कर्ता के रूप में श्रीशठकोपमुनि की गणना बहुत ही ऊँचे आळ्वारों में की जाती है । इस सहस्रगीति में व्यक्त श्रीशठकोपमुनि की अद्भुत कृष्ण भक्ति को दृष्टिगत रखते हुए श्रीपराशर भट्टार्य ने कहा है :—

ऋषिं जुषामहे कृष्ण-तृष्णा-तत्त्वमिषोदितम् ।

सहस्रशाखां योऽद्वाकीद् द्रामिडीं ब्रह्मसंहिताम् ॥



[ वसन्ततिलकम् ]

यन्मूर्ध्नि मे श्रुतिशिरस्सु च भाति यस्मिन्  
 अस्मन्मनोरथपथः सकलः समेति ।  
 स्तोष्यामि नः कुलधनं कुलदैवतं तत्  
 पादारविन्दमरविन्दविलोचनस्य ॥ ६ ॥

अब मैं हमारे (= श्रीवैष्णवों के) कुलधन तथा कुलदैवत कमलनयन भगवान् वासुदेव के चरणारविन्द की स्तुति करता हूँ जो (चरणारविन्द) सदैव मेरे मस्तक पर तथा उपनिषदों में प्रकाशमान रहते हैं, (अर्थात् जो सदैव मेरे ध्यान के विषय बने रहते हैं और उपनिषदों के माध्यम से ज्ञेय हैं) तथा जिनकी ओर हमारी सब इच्छाओं की धाराएँ बहती हैं (अर्थात् जो हमारे सब मनोरथों का एकमात्र लक्ष्य है) ॥ ६ ॥

[ वसन्ततिलकम् ]

\* तत्त्वेन यस्य महिमार्णवशीकराणुः  
शक्यो न मातुमपि शर्वपितामहाद्यैः ।

वास्तव में जिन भगवान् नारायण के माहात्म्यरूपी समुद्र  
के जलविन्दु के लव का भी वर्णन करने में भगवान् शङ्कर तथा

---

\* इस पद्य में श्री यामुनाचार्य स्वयं को निर्लज्ज कहते हुए नमस्कार करते  
हैं, इसका क्या रहस्य होगा ? श्री यामुनाचार्य जानते हैं कि अनन्त  
महिमा भगवान् का स्तोत्र करने के लिये प्रवृत्त होना उनके लिये  
आसानी से हो सकता है । यह प्रवृत्ति अज्ञानमूलक है । किन्तु यह प्रवृत्ति

कर्तुं तदीयमहिमस्तुतिमुद्यताय  
मह्यं नमोऽस्तु कवये निरपत्रपाय ॥ ७ ॥

ब्रह्मदेव आदि भी समर्थ नहीं हुए हैं उन्हीं के माहात्म्य का वर्णन करने के लिये उद्यत मुझ निर्लज्ज को भी प्रणाम है ॥ ७ ॥

---

श्रीयामुनाचार्य की योग्यता के (उन्हीं के अपने ही कथनानुसार) बाहर की होने पर भी सत्प्रवृत्ति तो है ही । अतः जिस अज्ञान ने इस सत्प्रवृत्ति को जन्म दिया वह भी नमस्कार योग्य है । इस पथ में प्रस्तुत प्रणाम श्रीयामुनाचार्य के खनिदित अज्ञान के लिये है ।



[ वसन्ततिलकम् ]

यद्वा श्रमावधि यथामति वाप्यशक्तः

स्तौम्येवमेव खलु तेऽपि सदा स्तुवन्तः ।

वेदाश्चतुर्मुखमुखाश्च महार्णवान्तः

को मज्जतोरणुकुलाचलयोर्विशेषः ॥ ८ ॥

अथवा असमर्थ होते हुए भी जब तक मेरी शक्ति है तब तक मेरी बुद्धि के अनुसार श्रीमन्नारायण की स्तुति करता ही रहूँगा क्योंकि समस्त वेदवृन्द भी तो इसी प्रकार उनकी सदा स्तुति करते हैं । श्रीमन्नारायण के गुण-गण रूपी अथाह समुद्र में डूब जाने पर धूलि के एक कण में तथा सुमेरु पर्वत में क्या अन्तर रहता है ? [ अर्थात् कुछ भी नहीं ] ॥ ८ ॥

[ वसन्ततिलकम् ]

किञ्चैप शक्त्यतिशयेन न तेऽनुकम्प्यः

स्तोताऽपि तु स्तुतिकृतेन परिश्रमेण ।

हे कमलनयन, इसके अतिरिक्त ( और भी एक बात है ) आपकी स्तुति करने वाला स्तुति करने की अपनी शक्ति ( प्रतिभा इत्यादि ) के कारण आपकी अनुकम्पा के योग्य नहीं होता, किन्तु आपकी स्तुति करने में वह जो परिश्रम करता है उससे वह योग्य होता है । श्रम करना तो मुझ मन्दबुद्धि के लिये

विवरणः— इस पत्र में श्रीगामुनाचार्य अपने दौर्वल्य को भी गुण में परिवर्तित करते हैं । वे कहते हैं : हे भगवन्, आपकी स्तुति करने वाले वेद, चतुर्मुख ब्रह्म आदि में जो गुण नहीं है वह मुझ में है : वह है मन्द-

तत्र श्रमस्तु सुलभो मम मन्दबुद्धे-

रित्युद्यमोऽयमुचितो मम चाब्जनेत्र ॥ ९ ॥

सुकर है, कारण मन्दबुद्धि होने के कारण स्तुति करने में इतरों की अपेक्षा मुझमें श्रम करने की अधिक क्षमता है ही। अतः आपकी स्तुति करने का यह मेरा उद्यम उचित ही है, इससे अवश्य ही मैं आपकी अनुकम्पा का पात्र बन जाऊँगा ॥ ९ ॥

---

बुद्धि जिसके कारण मैं प्रभूत श्रम कर सकता हूँ और आप तो स्तुति करने वाले की शक्ति देखकर उस पर अनुकम्पा नहीं करते किन्तु उसका श्रम देखकर; अतः मन्दबुद्धि होना यह भी मेरे लिये गुणावह हो गया है।



[ वसन्ततिलकम् ]

नावेशसे यदि ततो भुवनान्यमूनि  
 नालं प्रभो भवितुमेव कुतः प्रवृत्तिः ।  
 एवं निसर्गसुहृदि त्वयि सर्वजन्तोः

स्वामिन्न चित्रमिदमाश्रितवत्सलत्वम् ॥ १० ॥

हे प्रभो, यदि आप कृपा दृष्टि से नहीं देखेंगे तो ये समस्त लोक अस्तित्व में ही नहीं रह सकेंगे, फिर इनकी अपनी-अपनी प्रवृत्तियों की तो बात ही कहाँ ? आप समस्त जीव-जगत् के स्वाभाविक सुहृद ( मित्र ) हैं । अतः आपकी यदि शरणागतजीवों के प्रति वात्सल्य भाव है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ॥ १० ॥

१. द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।

यदनुग्रहतः सन्ति, त सन्ति यदुपेक्षया ॥ [ श्रीमद्भागवत - २-१०-१२ ]

[ वसन्ततिलकम् ]

स्वाभाविकानवधिकातिशयेशितृत्वं

नारायण त्वयि न मृध्यति वैदिकः कः ।

ब्रह्मा शिवः शतमुखः परमस्वराडि-

त्येतेऽपि यस्य महिमार्णवविप्रुषस्ते ॥ ११ ॥

हे भगवन् नारायण ! ऐसा कौन वेदपारङ्गत व्यक्ति होगा जो आपके स्वाभाविक, अप्रतिम प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करेगा ? (अर्थात् सभी स्वीकार करेंगे); क्योंकि ब्रह्मदेव, शिव, इन्द्र एवं श्रेष्ठ मुक्त जीव (स्वराट्)<sup>१</sup> भी आपकी महिमारूपी समुद्र के जल-बिन्दु के समान हैं ।<sup>२</sup> ॥ ११ ॥

१. देखो आगे विवरण संख्या १ ।

२. देखो आगे विवरण संख्या २ ।

[ वसन्ततिलकम् ]

कः श्रीः श्रियः परमसत्त्वसमाश्रयः कः

कः पुण्डरीकनयनः पुरुषोत्तमः कः ।

कस्यायुतायुतशतैककलांशकांशे

विश्वं विचित्रचिदचित्प्रविभागवृत्तम् ॥ १२ ॥

हे भगवन, आप को छोड़कर भगवती महालक्ष्मी के मङ्गलाधायक कौन है ? शुद्ध सत्त्व के आधार कौन है ? कमलनयन कौन है ? पुरुषोत्तम कौन है ? किस के हजारों अथवा करोड़ों अंशों के एक अंश के एक अतिसूक्ष्म भाग में यह विस्मयकारी समस्त विश्व चेतनाऽचेतनात्मक रूप में विभक्त होकर स्थित है ? ॥ १२ ॥



[ वसन्ततिलकम् ]

वेदापहारगुरुपातकदैत्यपीडा-

द्यापद्विमोचनमहिष्ठफलप्रदानैः ।

कोऽन्यः प्रजापशुपती परिपाति कस्य

पादोदकेन स शिवः स्वशिरोधृतेन ॥ १३ ॥

वेदों का अपहरण,<sup>१</sup> महापातक,<sup>२</sup> दानवों से प्राप्त पीडा<sup>३</sup>  
आदि सङ्कटों से मुक्त कर तथा अत्युत्तम फल प्रदान कर चतुर्मुख  
ब्रह्मा तथा शङ्कर की रक्षा करने में आप के सिवाय अन्य कौन  
समर्थ है ? तथा किस के चरणोदक को<sup>४</sup> अपने मस्तक पर धारण  
कर शिवजी शिव ( मङ्गलप्रद ) बने ? ॥ १३ ॥

[ वसन्ततिलकम् ]

कस्योदरे हरविरिञ्चिमुखः प्रपञ्चः

को रक्षतीममजनिष्ट च कस्य नाभेः ।

क्रान्त्वा निगीर्य पुनरुद्गिरति त्वदन्यः

कः केन चैष परवानिति शक्यशङ्कः ॥ १४ ॥

शिव, ब्रह्मा आदि प्रमुखों से युक्त यह समस्त प्रपञ्च महाप्रलय के समय किस के उदर में आश्रय पाता है ? कौन इस का रक्षण करता है ? किस के नाभिकमल से यह विश्व उत्पन्न होता है ? आपके अतिरिक्त किसने समस्त विश्व को तीन चरणों में नापा और कौन इस विश्व को निगल कर पुनः प्रकट कर सकता है ? आप को छोड़कर सम्भवतः कौन इस विश्व को अपने नियन्त्रण में रखनेवाला प्रभु हो सकता है ? इस विषय में शङ्का कर सकने वाला भी कौन हो सकता है ? ॥ १४ ॥

[ वसन्ततिलकम् ]

त्वां शीलरूपचरितैः परमप्रकृष्ट-  
सत्त्वेन सात्त्विकतया प्रवलैश्च शास्त्रैः ।

प्रख्यात-दैव'-परमार्थविदां मतैश्च  
नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति वोद्धुम् ॥ १५ ॥

हे भगवन् ! आसुरी प्रकृतिवाले प्राणी आप के दिव्य शील,  
दिव्य रूप तथा दिव्य चरितों से तथा आप के परम सात्त्विक  
स्वभाव से, प्रमाणभूत सात्त्विक शास्त्रों एवं परमात्मतत्त्व जानने  
वाले प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानियों के अभिप्रायों से आपको समझ नहीं  
सकते । वस्तुतः आपको जानने के लिये उपर्युक्त इतने साधन  
होने पर भी आसुरी स्वभाव के लोक आपको समझ नहीं  
सकते ॥ १५ ॥

१. दैवम् = देव, देवता, यथा - सर्वभूतगुणैर्युक्तं दैवं मां ज्ञातुमर्हसि । - मोक्षधर्म



[ वसन्ततिलकम् ]

उल्लङ्घितत्रिविधसीमसमातिशायि-

सम्भावनं तव परिग्रहिमस्वभावम् ।

मायाबलेन भवतापि निगूह्यमानं

पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः<sup>१</sup> ॥ १६ ॥

काल, देश तथा कारण रूपी त्रिविधसीमा से अतीत तथा आपके सम तथा आपसे अधिक अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्ति से रहित आपके सर्वश्रेष्ठ तथा सार्वभौम स्वरूप को — जिसे आपने भी अपनी माया के बल से आच्छादित कर रखा है — कुछ ही भाग्यशाली जीव, जो निरन्तर आप के ध्यान में अनन्यभाव से मग्न हैं, समझ सकते हैं ॥ १६ ॥

[ वंशस्थविलम् ]

यदण्डमण्डान्तरगोचरं<sup>१</sup> च यद्  
दशोत्तराण्यावराणानि यानि च ।

गुणाः प्रधानं पुरुषः परं पदं  
परात्परं ब्रह्म<sup>२</sup> च ते विभूतयः ॥ १७ ॥

हे भगवन् ! यह ब्रह्माण्ड, इस के अन्तर्वर्ती वस्तुजात,  
इसके दस गुण बाह्य आवरण, सत्त्व, रज तथा तम नामक तीन  
गुण, प्रकृति तथा पुरुष, मुक्तिस्थान वैकुण्ठ तथा परिशुद्ध नित्यमुक्त  
जीव — ये सभी आप की ही विभूतियाँ हैं ॥ १७ ॥

१. देखो विवरण सं. ८ ।

२. परब्रह्म = नित्य मुक्त जीव ।

ब्रह्माणि जीवाः सर्वेऽपि परब्रह्माणि मुक्तिगाः । — परमश्रुति [विष्णुतत्त्व — निर्णये]

[ वंशस्थविलम् ]

वशी ' वदान्यो गुणवानृजुः शुचिर-  
मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः ।

कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः

समस्तकल्याणगुणामृतोदधिः ॥ १८ ॥

स्वभाव से ही सर्वशक्तिमान्, उदार, सद्गुणसम्पन्न,  
निष्कपट, शुद्ध, मृदु, दयावान्, मधुर, स्थिर, पक्षपातरहित,  
कृतार्थ, कृतज्ञ ( भक्तों की सेवाओं का आदर करने वाले ) तथा  
समस्त कल्याणकारी गुणों के सुधासमुद्र आप ही हैं ॥ १८ ॥

१. शक्तिशाली ।



[ वंशस्थविलम् ]

उपर्युपर्यब्जभुवोऽपि पूरुषान्  
प्रकल्प्य ते' ये शतमित्यनुक्रमात् ।

गिरस्त्वदेकैकगुणावधीप्सया  
सदा स्थिता नोद्यमतोऽतिशेते ॥ १९ ॥

आपके प्रत्येक गुण की महत्ता की सीमा निर्धारण करने की इच्छा से वेद, चतुर्मुख ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ और उससे भी श्रेष्ठ, और उससे भी अधिक श्रेष्ठ ऐसे कई पुरुषों की कल्पना कर, उनमें से प्रत्येक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ पुरुष के आनन्द के शतगुण अधिक आनन्द फिर उसके ऊपर के (उससे श्रेष्ठ) पुरुष का है ऐसा मानते हुए सर्वश्रेष्ठ आनन्द की अवधि या इयत्ता

१. विशेष चर्चा देखो विवरण संख्या ९.

[ वंशस्थविलम् ]

त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थिति-

प्रणाशसंसारविमोचनादयः ।

भवन्ति लीला विधयश्च वैदिका-

स्त्वदीयगम्भीरमनोऽनुसारिणः ॥ २० ॥

जगत् की सृष्टि, स्थिति, और संहार तथा संसार के बन्धन से मुक्त करना आदि तथा आपकी गम्भीर इच्छा को अनुसरण करने वाली जो वेदोक्त विधियाँ हैं — वे सब आपकी क्रीड़ाएँ आपके आश्रित भक्तों के हितार्थ हैं ॥ २० ॥

निश्चित करने के प्रयत्न में निरन्तर उद्यमशील हैं । किन्तु वे अपने इस उद्यम में बहुत आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं ॥ १९ ॥

[ वंशस्थविलम् ]

नमो नमो वाङ्मनसातिभूमये  
नमो नमो वाङ्मनसैकभूमये ।

नमो नमोऽनन्तमहाविभूतये  
नमो नमोऽनन्तदयैकसिन्धवे ॥ २१ ॥

वाणी और मन के परे अर्थात् अगोचर ऐसे आपको  
पुनः पुनः मेरा प्रणाम<sup>१</sup> । वाणी और मन के एकमात्र आधार  
आपको पुनः पुनः प्रणाम । अनन्त लोकोत्तर वैभव-सम्पन्न  
आपको मेरा पुनः पुनः प्रणाम । अपार दयासमुद्र आपको मेरा  
बारम्बार प्रणाम ॥ २१ ॥



[ बाला - उपजातिः ]

न धर्मनिष्ठोऽसि न चात्मवेदी  
न भक्तिमाँस्त्वचरणारविन्दे ।

अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य  
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥ २२ ॥

हे शरणागत-वत्सल ! मैं न तो धर्मपरायण हूँ, न आत्म-ज्ञान से युक्त हूँ, और न आपके चरण-कमल में मेरी दृढ़ भक्ति है । वास्तव में, मैं अकिञ्चन ( जिसके पास कुछ भी साधन न हो ऐसा ) हूँ, अन्य किसी भी प्रकार के अवलम्बन से रहित हूँ, अतः आपके चरणों का ही मैंने एक मात्र शरण ग्रहण किया है ॥ २२ ॥

[ रामा - उपजातिः ]

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके  
सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।

सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द  
क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥ २३ ॥

इस जगत् में ऐसा कोई निन्दनीय कर्म नहीं जो हजारों  
बार मेरे द्वारा न किया गया हो । अब वही मैं उन कर्मों के  
फल भोगने के अवसर आने पर आपके समक्ष, हे मुकुन्द !

अगतिक होकर, रो रहा हूँ ॥ २३ ॥

[ इन्द्रवज्रा ]

निमज्जतोऽनन्तभवार्णवान्त-

श्चिराय मे कूलमिवासि लब्धः ।

त्वयापि लब्धं भगवन्निदानीम्

अनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः ॥ २४ ॥

हे अनन्त ! संसारसमुद्र में बहुत समय से डूबे हुए मुझे आप किनारे के समान सहारा देने के लिये प्राप्त हो गये हैं । साथ ही आपको भी, हे भगवन्, अपनी दया प्रकट करने के लिये अब एक सर्वोत्तम पात्र मिल गया है : और वह पात्र मैं ही हूँ क्योंकि मेरे जैसा असमर्थ, दीन तथा आर्त व्यक्ति और कौन हो सकता है जो आपकी करुणा का योग्य पात्र बनें ! ॥ २४ ॥



[ जया - उपजातिः ]

अभूतपूर्व मम भावि किं वा  
 सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम् ।  
 किन्तु त्वदग्रे शरणागतानाम्  
 पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः ॥ २५ ।

ऐसा कौनसा अभूतपूर्व सङ्कट मुझ पर अब बीतनेवाला है ? मैं तो सब कुछ सहन कर लूंगा क्योंकि दुःख तो जन्म से ही मेरे साथ है <sup>१</sup> । किन्तु आपके सामने ही आपकी शरण में आये व्यक्तियों को दुःखों से पराजित होना पड़े यह आप के शरणागतवत्सल स्वरूप के योग्य नहीं होगा ॥ २५ ॥

१. विशेष सन्दर्भ के लिये देखो आगे-विवरण सं. ११ ।

[ वंशस्थविलम् ]

निरासकस्यापि न तावदुत्सहे

महेश हातुं तव पादपङ्कजम् ।

रूपा निरस्तोऽपि शिशुः स्तनन्धयो

न जातु मातुश्चरणौ जिहासति ॥ २६ ॥

हे प्रभो, आप मेरा त्याग कर भी दें तो भी मैं आप के  
चरण-कमल का सहारा छोड़ने का साहस नहीं कर सकूंगा ।  
क्रोध से जननी द्वारा दूर हटाये जाने पर भी दूधमुहाँ बच्चा  
अपनी माता के चरणों को कभी छोड़ना नहीं चाहता ॥ २६ ॥

[ वंशस्थविलम् ]

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे

निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति ।

स्थिते'ऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे

मधुव्रतो नेक्षुरकं<sup>१</sup> हि वीक्षते ॥ २७ ॥

अमृत रस बहाने वाले आप के चरण कमलों में जिसका मन अनुरक्त हो गया है वह भक्त अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा कैसा कर सकता है ? मकरन्द से भरे हुए कमल सामने स्थित होने पर भौंरा इक्षुरक [ अथवा इक्षुरस = गन्ने के रस ] की ओर आँख उठा कर देखना भी पसंद नहीं करता ॥ २७ ॥

१. विशेष चर्चा देखो विवरण संख्या— १२

२. "इक्षुरस समीक्षते" ऐसा पाठान्तर है । देखो विवरण सं. १३



[ वंशस्थविलम् ]

त्वदङ्घ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्-

यथा तथा वापि सकृत्कृतोऽञ्जलिः ।

तदैव' मुष्णात्यशुभान्यशेषतः

शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ॥ २८ ॥

आपके चरणों को लक्ष्य बना कर किसी भी क्षण, जिस किसी भी रूप में, किसी भी प्राणी के द्वारा एक बार भी हाथ जोड़ कर किया हुआ प्रणाम उसी समय उस के समस्त अशुभ कर्मों को नष्ट कर शुभ फलों को बढ़ा देता है । वह (प्रणाम) कभी भी विफल नहीं होता ॥ २८ ॥

[ वंशस्थ विलम् ]

उदीर्णसंसारदवाशुशुक्षणि'

क्षणेन निर्वाप्य पराञ्च निर्वृतिम् ।

प्रयच्छति त्वच्चरणारूणाम्बुज-

द्वयानुरागामृतसिन्धुशीकरः ॥ २९ ॥

आप के रक्तकमलसदृश चरणयुगल के प्रति किया हुआ  
अनुराग एक अमृत समुद्र जैसा है । उस अनुराग का एक कण  
भी हम में (भक्त में) हो तो वह एक क्षण में इस संसार रूपी  
भयङ्कर दावाग्नि को बुझा कर परमानन्द प्रदान करता है ॥ २९ ॥

तात्पर्य यह है कि भगवान् भक्त की अल्प भक्ति से भी  
सन्तुष्ट हो कर उस के संसारदुःख को दूर कर उसे श्रेष्ठ सुख  
प्रदान करते हैं ।

[ वंशस्थविलम् ]

विलासविक्रान्तपरावरालयं<sup>१</sup>

नमस्यदार्तिक्षपणे कृतक्षणम् ।

धनं मदीयं तव पादपङ्कजं

कदा नु साक्षात्करवाणि चक्षुषा ॥ ३० ॥

मेरी एकमात्र सम्पत्ति आपके चरणकमल ही हैं जिन्होंने खेल खेल में ही ऊर्ध्व तथा अधोलोकों को अर्थात् स्वर्ग और भूलोकों को नाप लिया<sup>१</sup> और जो शरणागतों के दुःख दूर करने में सदा आतुर रहते हैं। हे नाथ ! मेरे सर्वस्व आप के ऐसे चरणकमलों का कब मैं अपने नेत्रों से साक्षात्कार करूँगा ! ॥३०॥

१. परावरालयम् = ऊर्ध्व तथा अधोलोक ।

२. पौराणिक संदर्भ के लिये देखो विवरण सं.— १४



[ वंशस्थविलम् ]

कदा पुनः शङ्खरथाङ्गकल्पक-  
ध्वजारविन्दाङ्कुशवज्रलाञ्छनम् ।

त्रिविक्रम<sup>१</sup> त्वच्चरणाम्बुजद्वयं  
मदीयमूर्धानमलङ्करीष्यति ॥ ३१ ॥

हे त्रिविक्रम ! शङ्ख, चक्र, कल्पवृक्ष, ध्वज, कमल, अङ्कुश  
तथा वज्र रूपी सामुद्रिक चिह्नों (रेखाओं) से सुशोभित आप के  
चरणयुगल रूपी कमल अब मेरे मस्तक को कब अलङ्कृत कर  
पवित्र करेंगे ! ॥ ३१ ॥

१. भगवान् विष्णु के वामनावतार का अन्य नाम जो त्रिविक्रम है  
वह इसी कथा पर आधारित है । विक्रम = पाद; त्रिविक्रम = त्रिपाद ।

[ वंशस्थविलम् ]\*

विराजमानोज्ज्वलपीतवाससं  
 स्मितातसीधनसमामलच्छविम् ।  
 निमग्ननाभिं तनुमध्यमुल्लसद्-  
 विशालवक्षस्थलशोभिलक्षणम् ॥ ३२ ॥

आप अत्यन्त उज्ज्वल पीताम्बर से सुशोभित हैं । विकसित अतसी (अलसी) के पुष्प के समान स्वच्छ आप की शरीर-कान्ति है । आप की नाभि गम्भीर, तथा कटि कृश है । आप का विशाल वक्षःस्थल श्रीवत्स से शोभित है ॥ ३२ ॥

\* ध्यान दें—इन चार पद्यों (३२, ३३, ३४ और ३५) का एक साथ अन्वय होने के कारण यह 'कलापक' है । [ चतुर्भिस्तु कलापकम् । ]  
 [ अथ ३३ वें पद्य से लेकर ४६ वें पद्य तक भगवान् का वर्णन है ।

[ वंशस्थविलम् ]

चकासतं ज्याकिणकर्कशैः शुभै-

श्चतुर्भिराजानुविलम्बिभिर्भुजैः ।

प्रियावतंसोत्पलकर्णभूषण-

श्लथालकावन्धविमर्दशंसिभिः ॥ ३३ ॥

धनुष की डोरी के बार बार घर्षण से उत्पन्न घाव से कठोर, मङ्गलमय, आजानु (घुटने तक पहुँचने वाले) आप के चार भुज आप की परम प्रेयसी भगवती लक्ष्मी के शिरो-भूषण नीलकमल, कर्णालङ्कार तथा शिथिल केशपाश के सम्पर्क से सुवासित हुए हैं। ऐसे चार बाहुओं से आप सुशोभित हैं ॥ ३३ ॥

उपदेव पद्य के अन्त में भक्त शिरोमणि श्रीयामुनाचार्य भगवत्कैर्यप्राप्ति के लिये अपनी आतुरता व्यक्त करते हुए कहते हैं 'ऐसे दयादाक्षिण्यसम्पन्न



[ वंशस्थविलम् ]

उदग्रपीनांसविलम्बिकुण्डला-

लकावलीबन्धुरकम्बुकन्धरम् ।

मुखश्रिया न्यक्कृतपूर्णनिर्मला-

मृतांशुविम्बाम्बुरुहोज्ज्वलश्रियम् ॥ ३४ ॥

आप के ऊँचे तथा पुष्ट स्कन्ध प्रदेश पर झूलने वाले कर्णकुण्डलों से तथा घूँघराले केश से शङ्ख सदृश आकार वाली आप की ग्रीवा बहुत सुन्दर दिखायी देती है । आप की मुखश्री पौर्णिमा के निर्मल चन्द्रविम्ब की तथा कमल की उज्ज्वल कान्तिको भी तिरस्कृत कर देती है = [ अर्थात् मुखच्छवि उन सब से अधिक उज्ज्वल है ॥ ३४ ॥ ]

आपको कब मैं अपने नित्य कैङ्कर्य से प्रसन्न कर सकूँगा ! (कदाहमेकान्तिक-  
नित्यकिङ्करः सदाहमेकान्तिकः सनाथजीवितः ) ]

[ वंशस्थविलम् ]

प्रबुद्धमुग्धाम्बुजचारुलोचनं  
सविभ्रमभ्रूलतमुज्ज्वलाधरम् ।

शुचिस्मितं कोमलगण्डमुन्नसं

ललाटपर्यन्तविलम्बितालकम् ॥ ३५ ॥

आपके नेत्र पूर्ण विकसित तथा सुकुमार कमल के सदृश मनोहर हैं । आपकी भौंहें लता जैसी झूलती हुई सुन्दर हैं । आपके उज्ज्वल अधर स्वच्छन्द मन्द हास से सुशोभित हैं, कपोल कोमल है, नासिका उन्नत है तथा अलकावली ललाट पर लटक रही है ॥ ३५ ॥

[ वंशस्थविलम् ]

स्फुरत्किरीटाङ्गदहारकण्ठिका-

मणीन्द्रकाञ्चीगुणनूपुरादिभिः ।

रथाङ्गशङ्खासिगदाधनुर्वरै-

लसत्तुलस्या वनमालयोज्ज्वलम् ॥ ३६ ॥

रत्नजडित किरीट, भुजवन्द, मौक्तिक हार, कण्ठिका<sup>१</sup>,  
मणिश्रेष्ठ कौस्तुभ<sup>२</sup>, मेखला ( करधनी ) नूपुर आदि से, चक्र, शङ्ख,  
खड्ग, गदा तथा श्रेष्ठ धनुष आदि दिव्य आयुधों से, सुन्दर  
तुलसी तथा वनमाला<sup>३</sup> से आप उज्ज्वल हैं ॥ ३६ ॥

१. कण्ठिका = एकलङ्घ का हार ।

२. देखो विवरण संख्या १५ ।

३. देखो विवरण संख्या १६ ।



[ वंशस्थविलम् ]

चकर्थ यस्या भवनं भुजान्तरं

तव प्रियं धाम यदीयजन्मभूः ।

जगत्समस्तं यदपाङ्गसंश्रयं

यदर्थमम्भोधिरमन्थ्यबन्धि च ॥ ३७ ॥

जिस भगवती महालक्ष्मी का निवास स्थान आपका वक्षःस्थल है, जिसकी जन्मभूमि (क्षीर समुद्र) आपका प्रिय निवास स्थान है, समस्त ब्रह्माण्ड जिसके कटाक्ष पर आश्रित है, और जिसके लिये समुद्रमन्थन<sup>१</sup> हुआ और समुद्र पर सेतु निर्माण<sup>२</sup> हुआ...॥ ३७ ॥

१. पौराणिक सन्दर्भ के लिये देखो विवरण संख्या १७ ।  
२. पौराणिक सन्दर्भ के लिये देखो विवरण संख्या १८ ।

## [ वंशस्थविलम् ]

स्ववैश्वरूप्येण सदानुभूतयाऽप्यपूर्ववद्विस्मयमादधानया ।  
गुणेन रूपेण विलासचेष्टितैः सदा तवैवोचितया तव श्रिया ॥३८॥

ऐसी भगवती लक्ष्मी के सहवास के सुख का अनुभव आपको अपने विश्वरूप के कारण ( तथा आपका वक्षःस्थल ही उनका सदा निवास स्थान होने के कारण ) यद्यपि निरन्तर प्राप्त है तथापि उनका ( भगवती लक्ष्मी का ) रूप वैभव ऐसा है कि वह आपको सदा आश्चर्यचकित करता रहता है मानों वह अपूर्व है' । इस प्रकार सदा नये नये प्रतीत होने वाले अपने गुण, रूप और विलास चेष्टाओं से भगवती लक्ष्मी आपके ही योग्य है ॥ ३८ ॥

[ वंशस्थविलम् ]

तथा सहासीनमनन्तभोगिनि

प्रकृष्टविज्ञानबलैकधामनि ।

फणामणिव्रातमयूखमण्डल-

प्रकाशमानोदरदिव्यधामनि ॥ ३९ ॥

भगवती लक्ष्मी के साथ आप अनन्तनाग पर आसीन हैं जो ( अनन्तनाग ) उत्कृष्टज्ञान तथा बल का मुख्य स्थान है तथा जिनकी सहस्र फणाओं में विद्यमान मणिसमूह के किरण-मण्डल से आपके दिव्य धाम वैकुण्ठ का अन्तस्थ भाग

प्रकाशमान रहता है...॥ ३९ ॥



[ वंशस्थविलम् ]

निवासशय्यासनपादुकांशुको-  
पधानवर्षातपवारणादिभिः ।

शरीरभेदैस्तव शेषताङ्गतै-  
र्यथोचितं शेष इतीर्यते जनैः ॥ ४० ॥

जो अपने शरीर को भिन्न भिन्न आकार में परिवर्तित कर  
आपका निवास स्थान, आसन, पादुका, वस्त्र, तकिया, तथा  
वर्षा या छणता का निवारण करने वाला छत्र आदि बनकर आपकी  
अनेक प्रकार की सेवाएं करते रहने के कारण शेषत्व प्राप्त किये  
हुए हैं और उसी के कारण जो लोकों द्वारा शेष<sup>१</sup> कहलाते हैं ॥४०॥

[ वंशस्थविलम् ]

दासः सखा वाहनमासनं ध्वजो

यस्ते वितानं व्यजनं त्रयीमयः ।

उपस्थितं तेन पुरो गरुत्मता

त्वदङ्घ्रिसम्मर्दकिणाङ्कशोभिना ॥ ४१ ॥

वेदमय गरुड, जो आपके सेवक, सखा, वाहन, आसन,  
ध्वज, वितान, ( शामियाना ) तथा व्यजन, ( पंखे ) के रूप में  
सेवा करते हैं और आपके चरणों के घर्षण से उत्पन्न चिह्नों से  
सुशोभित हैं, आपके सम्मुख उपस्थित हैं ॥ ४१ ॥

[ वंशस्थविलम् ]

त्वदीयभुक्तोज्झितशेषभोजिना

त्वया विसृष्टात्मभरेण यद्यथा ।

प्रियेण सेनापतिना न्यवेदि तत्

तथानुजानन्तमुदारवीक्षणैः ॥ ४२ ॥

आपके भोजन के अवशिष्ट अंश का प्रसाद के रूप में भोजन करने वाले आपके प्रिय सेनापति विष्वक्सेन द्वारा जो जो प्रस्ताव जिस जिस रूप में आपके सम्मुख प्रस्तुत होता है आप उसी रूप में उसकी स्वीकृति अपनी उदार दृष्टि से इज्जित करते हैं, तथा अपना कार्यभार उन पर ( सेनापति पर ) सौंप कर, आप निश्चिन्त हैं ॥ ४२ ॥



[ वंशस्थविलम् ]

हताखिलक्लेशमलैः स्वभावत-

स्त्वदानुकूल्यैकरसैस्तवोचितैः ।

गृहीत-तत्तत्परिचारसाधनै-

निषेव्यमाणं सचिवैर्यथोचितम् ॥ ४३ ॥

समस्त क्लेश एवं मालिन्य से मुक्त, स्वभाव से ही सर्वदा आपकी इच्छा के अनुकूल कार्य करने में ही रस ( रुचि अथवा आनन्द ) लेने वाले, आपकी परिचर्या के लिये योग्य उन उन साधनों से सदा सुसज्ज अनुचरों द्वारा आप सर्वदा सेव्यमान हैं ॥ ४३ ॥

[ वंशस्थविलम् ]

अपूर्वनानारसभावनिर्भर-

प्रबुद्धया मुग्धविदग्धलीलया ।

क्षणाणुवत्क्षिप्तपरादिकालया

प्रहर्षयन्तं महिषीं महाभुजम् ॥ ४४ ॥

महाबाहु आप अपनी दिव्य महिषी भगवती लक्ष्मी को ऐसी अपूर्व विविध रस तथा भावों से पूर्ण तथा चातुर्यपूर्ण और आकर्षक लीलाओं से प्रसन्न करते हो कि उस आनन्द में उस का परार्थमित काल एक क्षण जैसा बीत जाता है<sup>१</sup> ॥ ४४ ॥

१. परार्थ = यह एक बहुत बड़ी सङ्ख्या है जो अङ्कों में इस प्रकार है :-  
 १००,०००,०००,०००,०००,००० गिनने के लिये यह अन्तिम सङ्ख्या है : एकत्रादि परार्थपर्यन्ता सङ्ख्या — तर्कसंग्रह
२. देखो विवरण संख्या २२

[ वंशस्थविलम् ]

अचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्ययौवन-

स्वभावलावण्यमयामृतोदधिम् ।

श्रियः श्रियं भक्तजनैकजीवितं

समर्थमापत्सखमर्थिकल्पकम् ॥ ४५ ॥

आप अचिन्त्य, दिव्य, अद्भुत तथा नित्य यौवन से सम्पन्न हैं; आप सौन्दर्य रूपी अमृत के समुद्र हैं; आप श्री ( लक्ष्मी ) की भी श्री ( शोभा या सम्पत् बढ़ाने वाले ) हैं; भक्तजनों के एकमात्र आधार हैं; आप समर्थ हैं; विपत्ति में फँसे प्राणियों के आप परम मित्र हैं; तथा यांचकों के लिये कल्पवृक्ष हैं ॥ ४५ ॥



[ वंशस्थविलम् ]

भवन्तमेवानुचरन्निरन्तरं  
प्रशान्तनिःशेषमनोरथान्तरः ।

कदाहमैकान्तिकनित्यकिङ्करः

प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवितः ॥ ४६ ॥

हे भगवन्, केवल आपके ही नित्यकिङ्कर के रूप में अपने जीवन को सनाथ ( आप ही मेरे प्रभु होने के कारण ) मानता हुआ, जिसमें समस्त इच्छाएं शान्त हो गई हैं ऐसी मनोवृत्ति के साथ आपकी निरन्तर सेवा करता हुआ मैं आपको कब प्रसन्न कर सकूंगा ? ॥ ४६ ॥

स्मरण रहे, पद्य ३५ से प्रारम्भ किया हुआ भगवद्दर्शन इस पद्य में भक्त कवि की सदा भगवत्कैवल्य करने रहने की तीव्र इच्छा के साथ समाप्त हो रहा है। स्तोत्र के शेष भाग में श्री यामुनाचार्य

[ मालिनी ]

धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं  
परमपुरुष योऽहं योगिवर्याग्रगण्यैः ।

विधि-शिव-सनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरं

तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः ॥ ४७ ॥

हे परमपुरुष, मुझे धिक्कार है जो मैं अशुचि, दुर्विनीत,  
निर्भय, निर्लज्ज तथा स्वेच्छाचारी होकर भी श्रेष्ठ मुनियों में  
अग्रगण्य ऐसे ब्रह्मदेव, शिवजी, सनक आदि मुनियों के भी  
ध्यानगम्य नहीं ऐसे आपके परिजन होने की अपेक्षा कर रहा  
हूँ ( जिसके लिए मैं वास्तव में अयोग्य हूँ ) ॥ ४७ ॥

अपनी हीनता की निन्दा के साथ साथ दीनता को व्यक्त करते हुए भगवान्  
की दया की याचना करते हैं ।

[ सुन्दरी\* ]

अपराधसहस्रभाजनं

पतितं भीमभवाणर्वोदरे ।

अगतिं शरणागतं हरे

कृपया केवलमात्मसात्कुरु ॥ ४८ ॥

हे हरि ! सहस्र अपराध करने वाला, भयङ्कर संसार-  
समुद्र में फंसा हुआ मैं, अगतिक हो कर, आपकी शरण में आया  
हूँ, आप केवल अपनी कृपा से ही मुझे अपना लीजिये ॥ ४८ ॥



[ सुन्दरी ]

अविवेकघनान्धदिङ्मुखे

बहुधा सन्ततदुःखवर्षिणि ।

॥ भगवन् भवदुर्दिने पथः

स्खलितं मामवलोकयान्द्युत ॥ ४९ ॥

अज्ञानरूपी बादलों के अन्धेरे में दिशाएं ढंकी हुई हैं,  
जहाँ दुःख रूपी वर्षा निरन्तर हो रही है ऐसे संसाररूपी दुर्दिन  
में मैं सन्मार्ग से च्युत होकर पड़ा हुआ हूँ; हे अच्युत ! आप  
मेरी ओर कृपा दृष्टि से देखिये ॥ ४९ ॥

१. दुर्दिन = (i) बुरा दिन (ii) सेवाच्छन्न दिन मेवाञ्छयं तु दुर्दिनम् ।

[ सुन्दरी ]

न मृषा परमार्थमेव मे  
शृणु विज्ञापनमेकमग्रतः ।

यदि मे न दयिष्यसे ततो  
दयनीयस्तव नाथ दुर्लभः ॥ ५० ॥

हे नाथ ! सुनिये, मैं आपके समक्ष विलकुल झूठ नहीं बोल रहा हूँ किन्तु यथार्थ निवेदन करता हूँ कि यदि आप मुझ पर कृपा नहीं करेंगे तो आप को दूसरा दया का पात्र मिलना दुर्लभ होगा ॥ ५० ॥

आशय यह है कि, यदि भगवान् को अपनी दया का सदुपयोग करना हो तो यही अवसर है जब श्री यामुनाचार्य जैसा दया के योग्य व्यक्ति उपलब्ध है। यदि उन पर भगवान् दया नहीं करेंगे तो योग्य पात्र के अभाव में उनका दयामुण्ड विना उपयोग के ही व्यर्थ हो जायेगा।

[ सुन्दरी ]

तदहं त्वदृते न नाथवान्  
मदृते त्वं दयनीयवान्न च ।  
विधिनिर्मितमेतदन्वयं

भगवन् पालय मा स्म जीहपः ॥ ५१ ॥

आपके सिवाय मेरा कोई अन्य स्वामी नहीं और मेरे  
सिवाय आपको दया के योग्य अन्य व्यक्ति नहीं मिल सकता ।  
यह परस्पर सम्बन्ध विधि निर्मित है । हे भगवन् इस सम्बन्ध  
को बनाये रखिये और मुझे मत छोड़िये ॥ ५१ ॥

इस प्रकार दया की याचना कर मानों श्री यामुनाचार्य भगवान् को अपनी  
दया के सदुपयोग का एक अवसर देकर उन पर उपकार कर रहे हैं । अपनी  
दयनीय-दीनता को भी भगवान् के ससक्ष रूप में प्रस्तुत करना भक्त का  
ही अधिकार है ।



[ सुन्दरी ]

वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा

गुणतोऽसानि यथातथाविधः ।

तदयं तव पादपद्मयो-

रहमद्यैव मया समर्पितः ॥ ५२ ॥

शरीर, मन आदि तत्त्वों में मैं कोई भी क्यों न हूं  
 ( अर्थात् मैं शरीर, मन अथवा तद्भिन्न कोई आत्मा नाम की  
 नित्य वस्तु क्यों न हूं ) और गुण की दृष्टि से मैं जैसा तैसा  
 भी क्यों न हूं, मैं तो आज ही इस अहं ( मैं ) नामक  
 वस्तु को आपके चरण कमलों में समर्पित करता हूं ॥ ५२ ॥

[ सुन्दरी ]

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं  
सकलं तद्धि तवैव माधव ।

नियतस्वमिति प्रबुद्धधी-

रथवा किन्तु समर्पयामि ते ॥ ५३ ॥

अथवा, हे नाथ ! मेरा जो कुछ है और मैं जो कुछ हूँ  
वह सब निश्चित रूप से आपकी ही सम्पत्ति है ऐसी मेरी बुद्धि  
( समझ ) आपकी कृपा से जागृत हो गई है ; अब मैं आपको  
क्या समर्पण कर सकता हूँ' ॥ ५३ ॥

[ सुन्दरी ]

अवबोधितवानिमां यथा

मयि नित्यां भवदीयतां स्वयम् ।

कृपयैवमनन्यभोग्यतां

भगवन् ! भक्तिमपि प्रयच्छ मे ॥ ५४ ॥

हे भगवन्, जिस प्रकार आपने मुझे “ मैं सदा के लिये आपका ही हूँ ” ऐसी बुद्धि प्रदान की, उसी प्रकार कृपया मुझे आप के प्रति ऐसी भक्ति भी दीजिये जिससे मेरे मन में ऐसी दृढ़ भावना बनी रहे कि मैं केवल आप का ही भोग्य हूँ अन्य किसी का नहीं । [ अर्थात् किसी अन्य देवता की भक्ति करने की बुद्धि मुझमें उत्पन्न न हो ] ॥ ५४ ॥



[ सुन्दरी ]

तव दास्यसुखैकसङ्गिनां

भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे ।

इतरावसथेषु मा स्म भू-

दपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना ॥ ५५ ॥

मैं आप के दास्य (कैङ्कर्य) सुख में ही अनुराग रखने वाले भक्तों के घरों में कृमि-कीट के रूप में भी क्यों न जन्म ले लूं— वह मुझे इष्ट है किन्तु अन्य घरों में (जहाँ आप के चरणों में अनन्य भक्तिभाव न हो) चतुर्मुख ब्रह्मा के रूप में भी जन्म मुझे इष्ट नहीं है ॥ ५५ ॥

[ वंशस्थविलम् ]

सकृत्त्वदाकारविलोकनाशया

तृणीकृतानुत्तमभुक्तिमुक्तिभिः ।

महात्मभिर्मामवलोक्यतां नय

क्षणेऽपि ते यद्विरहोऽतिदुःसहः ॥ ५६ ॥

केवल एक बार आप की दिव्य मूर्ति के दर्शन की आशा से जिन्होंने उत्तमोत्तम भोग और मोक्ष को भी तृणवत् समझ कर ठुकरा दिया है' और जिनका विरह आप को एक क्षण भी दुःसह है ऐसे महात्मा पुरुषों की दृष्टि में मैं आ जाऊं [अर्थात् ऐसे महात्मा पुरुष मेरी ओर देखें] ऐसी मुझ पर कृपा कीजिये ॥ ५६ ॥

१. सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत ।  
दीयमानं न गृह्णाति विना मत्सेवमं जनाः ॥

[ शिखरिणी ]

न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं  
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात् ।

बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे, यातु शतधा  
विनाशं, तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम् ॥ ५७ ॥

मेरा शरीर, मेरे प्राण, समस्त चेतनों द्वारा वाञ्छित  
सुख, मेरी आत्मा या और भी कुछ, इनमें किसी वस्तु को,  
यदि वह आप के शेषत्वरूपी (आपकी सेवारूपी) सौभाग्य  
के बाहर हों, [ अर्थात् वह आप की सेवा में काम न आती हो  
तो ], मैं एकक्षण के लिये भी सहन नहीं कर सकता ।  
उसके सैकड़ों टुकड़े हो जाँय' । हे मधुसूदन ! यह मेरा निवेदन  
सत्य है ॥ ५७ ॥

CC-0. Prof. Sanyal Rat Shastri Collection, New Delhi. Digitized by S3 Foundation USA

१. विशेष तात्पर्य के लिये देखो विवृति संख्या २४ ।



[ शिखरिणी ]

दुरन्तस्यानादेरपरिहरणीयस्य महतो

निहीनाचारोऽहं नृपशुरशुभस्यास्पदमपि ।  
दयासिन्धो ! बन्धो ! निरवधिकवात्सल्यजलधे !

तव स्मारं स्मारं गुणगणमितीच्छामि गतभीः ॥ ५८ ॥

मैं हीन आचरण वाला एक नर पशु हूं और ऐसे ऐसे बड़े अशुभ कर्मों का घर हूं कि जिनका अन्त नहीं, आदि नहीं तथा जिनसे छुटकारा नहीं । तथापि हे दयासिन्धो, सर्वजन बन्धो, असीम वात्सल्य के समुद्र, हे भगवन्, आपके समस्त कल्याण गुणों का बार बार स्मरण करता हुआ मैं निर्भय होकर पूर्वोक्त पद्य में किये हुए विज्ञापन के अनुसार इच्छा करता रहूँ ॥ ५८ ॥

[ शिखरिणी ]

अनिच्छन्नप्येवं यदि पुनरितीच्छन्निव रज-  
स्तमश्छन्नश्छन्नस्तुतिवचनभङ्गीमरचयम् ।

तथापीत्थं रूपं वचनमवलम्ब्यापि कृपया

त्वमेवैवम्भूतं धरणिधर मे शिक्षय मनः ॥ ५९ ॥

हे भगवन् धरणीधर ! मेरी इच्छा न होते हुए भी मानों  
इच्छा है ही — ऐसा दर्शाते हुए रजोगुण तथा तमोगुण से आवृत  
होते हुए भी मैंने यद्यपि आपकी छद्म ( नकली ) स्तुति के वचन  
रचे हैं, तथापि आप इन वचनों के ही आधार पर इस प्रकार के  
अर्न्तबाह्य स्वरूप में भिन्न मेरे मन को ऐसी शिक्षा दीजिये कि  
उसका आन्तरिक तथा बाह्य स्वरूप एक हो जाय' ॥ ५९ ॥

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection, New Delhi. Digitized by S3 Foundation USA

१. स्पष्टीकरण के लिये देखो विवरण संख्या २५ ।

[ शिखरिणी ]

पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्  
 त्वमेव, त्वं मित्रं गुरुरसि गतिश्चासि जगताम् ।

त्वदीयस्त्वद्भृत्यस्तव परिजनस्त्वद्गतिरहं  
 प्रपन्नश्चैवं सत्यहमपि तवैवास्मि हि भरः ॥ ६० ॥

हे भगवन्, विश्व के समस्त प्राणियों के पिता, माता,  
 प्रियपुत्र, प्रियसुहृत्, मित्र, गुरु, एवं गति आप ही हैं । मैं आपका  
 हूँ, आपका भृत्य हूँ और आपही मेरे परम प्राप्य हैं, मैं आपकी  
 शरण आया हूँ । अतः मैं आप ही पर भार हूँ ॥ ६० ॥

१. सुहृत् और मित्र की व्याख्या : वयोविशेषानङ्गीकारेण स्वहितैषिणः सुहृदः ।  
 सवयसो हितैषिणो मित्राणि । [ रामानुज, गीताभाष्य ६-१ ]

प्रत्युपकारनिरपेक्षया उपकारकृत सुहृत् ।  
 बलेश्चास्थानं निरप्य नो रक्षां करोति स मित्रम् । [ मध्व, गीताभाष्य ६, १ ]



[ शिखरिणी ]

जनित्वाहं वंशे महति जगति ख्यातयशसां  
 शुचीनां युक्तानां गुणपुरुषतत्त्वस्थितिविदाम् ।  
 निसर्गादेव त्वच्चरणकमलैकान्तमनसा-  
 मधोऽधः पापात्मा शरणद निमज्जामि तमसि ॥ ६१ ॥

शरण देने वाले हे भगवन् ! इस जगत् में प्रसिद्ध, शुद्ध  
 आचरण वाले, योगी, त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा पुरुष के यथार्थ  
 स्वरूप को पहिचानने वाले [= आत्मा एवं अनात्मा में भेद  
 समझने वाले ] और स्वभाव से ही आपके चरण कमलों में अनन्य  
 एवं दृढ अनुराग रखने वाले ऐसे महनीय वंश में जन्म लेकर  
 पाप कर्म करनेवाला मैं अज्ञानरूपी अन्धकार में गहरा ही गहरा  
 डूबा जा रहा हूं ॥ ६१ ॥

[ शिखरिणी ]

अमर्यादः क्षुद्रश्चलमतिरस्रयाप्रसवभूः

कृतघ्नो दुर्मानी स्मरपरवशो वञ्चनपरः ।

नृशंसः पापिष्ठः कथमहमितो दुःखजलधे-

रपारादुत्तीर्णस्तव परिचरेयं चरणयोः ॥ ६२ ॥

हैं भगवन् ! मैं मर्यादारहित [= बड़ों की अवज्ञा करने वाला ] हूं, क्षुद्र हूं तथा चञ्चलबुद्धि हूं, डाह का मानों घर हूं, कृतघ्न, दुरमिमानी, कामपरवश, वञ्चक, क्रूर तथा पापी हूं । ऐसा मैं इस अपार दुःख सागर से पार हो, किस प्रकार आप के चरणों की सेवा कर सकूंगा ? ॥ ६२ ॥

[ मालिनी ]

रघुवर यदभूस्त्वं तादृशो वायसस्य  
प्रणतः इति दयालुर्यच्च चैद्यस्य कृष्ण ।

प्रतिभवमपराद्धमुग्ध सायुज्यदोऽभू-

र्वद किमपदमागस्तस्य तेऽस्ति क्षमायाः ॥ ६३ ॥

हे रघुवर ! दुष्ट काकासुर' पर आपने दया की, क्योंकि वह आपके सामने नतमस्तक हुआ । हे कृष्ण ! जिसने प्रतिजन्म आपसे शत्रुता की उस राजा शिशुपाल' को आपने परमानन्दमय सायुज्यमुक्ति प्रदान की । अतः कहिये ऐसा कौनसा पाप है जो आप की क्षमा का पात्र नहीं हो सकता ? ॥ ६३ ॥

इस पद्य में कवि ने एकबार 'रघुवर' को सम्बोधित किया है क्योंकि काकासुर पर अनुग्रह करने की घटना भगवान् के रामावतार में हुई और दूसरी बार 'कृष्ण' को सम्बोधित किया है क्योंकि शिशुपाल वध की घटना कृष्णावतार में हुई ।

१, २. पौराणिक सन्दर्भ के लिये देखो विवरण संख्या २६, २७ ।



[ उपेन्द्रवज्रा ]

ननु प्रपन्नः सकृदेव नाथ  
तवाहमस्मीति च याचमानः ।

तवानुकम्प्यः स्मरतः प्रतिज्ञां

मदेकवर्जं किमिदं व्रतं ते ॥ ६४ ॥

हे नाथ, एक ही बार 'मैं आप का हूँ' ऐसा कहने वाला जो प्रपन्न शरणागत हो जाता है वह आप की अनुकम्पा का पात्र बन जाता है। यह चरम श्लोक में घोषित आपकी प्रतिज्ञा है। इसका स्मरण कीजिये। क्या यह आपका व्रत मुझे छोड़कर अन्य सबको लागू होता है ? ॥ ६४ ॥

१. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।  
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षमिष्यामि मा शुचः ॥ [ भगवद्गीता १८-६६.  
इसके अधिक स्पष्ट विवरण के लिये देखें - 'अष्टश्लोकी'

[ ऋद्धिः\* ]

अकृत्रिमत्वचरणारविन्द-  
प्रेमप्रकर्षावधिमात्मवन्तम् ।

पितामहं नाथमुनिं विलोक्य  
प्रसीद मद्बृत्तमचिन्तयित्वा ॥ ६५ ॥

मेरे जीवन और मेरे अपराधों की ओर न देखते हुए,  
मेरे पितामह आत्मज्ञानी नाथमुनि की ओर देखिये जिनकी  
अकृत्रिम भक्ति आपके चरणारविन्द के प्रति चरमसीमा तक  
पहुंच गई थी और मुझ पर अनुग्रह कीजिये ॥ ६५ ॥

आशय यह है कि यद्यपि मैं अपने दुष्ट चरित्र के कारण आप के  
अनुग्रह का पात्र नहीं हो सकता हूँ तथापि आपके अनन्य भक्त मेरे  
पितामह नाथमुनि को देखकर मुझ पर अनुग्रह कीजिये ।

\*उपजातिभेदः ।

[ पद्यम् ]

यत्पदाम्भोरुहध्यानविध्वस्ताशेषकल्मषः ।

वस्तुतामुपयातोऽहं यामुनार्यं नमामि तम् ॥

जिनके चरण कमलों के ध्यान से मेरे समस्त पाप दूर हुए और मुझे मेरी सच्ची स्थिति का ज्ञान हुआ उन यामुनाचार्यजी को मैं नमस्कार करता हूँ ।

॥ इति\* ॥

\*पद्य सं. ५०-६५ तक के स्तोत्र-भाग पर सामान्य निवेदन के लिए देखो  
विवरण संख्या २४



॥ श्रीः ॥

## अथ वरदवल्लभा स्तोत्रम्

[ शार्दूलविक्रीडितम् ]

कान्तस्ते पुरुषोत्तमः फणिपतिः शय्यासनं वाहनं  
वेदात्मा विहगेश्वरो जवनिका माया जगन्मोहिनी ।

भगवति महालक्ष्मि ! भगवान् पुरुषोत्तम नारायण आपके  
प्रियपति हैं । फणामण्डल से विराजित शेषनाग आपकी शय्या  
तथा आसन हैं । वेदमय पक्षिराज गरुड आपका वाहन है और  
त्रिभुवनमोहिनी माया आपकी विहारलीला के लिये मातो

ब्रह्मेशादिसुरव्रजः सदयितस्त्वदासदासीगणः

श्रीरित्येव च नाम ते भगवति ब्रूमः कथं त्वां वयम् ॥१॥

तिरस्करिणी ( पर्दा ) है । ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवगण और उनकी पत्नियाँ आपके दास-दासी हैं । समस्त भक्तवृन्द को आश्रय देने वाली होने के कारण आपका नाम श्री है । इस प्रकार अनेक कल्याणगुणगण से मण्डित आपके रूप का यथावत् वर्णन हम कहाँ से कर सकते हैं ! ॥ १ ॥

[ शार्दूलविक्रीडितम् ]

यस्यास्ते महिमानमात्मन इव त्वद्वल्लभोऽपि प्रभु-

र्नालं मातुमियत्तया निरवधिं नित्यानुकूलं स्वतः ।  
तां त्वां दास इति प्रपन्न' इति च स्तोष्याम्यहं निर्भयो'  
लोकैकेश्वरि लोकनाथदयिते दान्ते दयां ते विदन् ॥ २ ॥

हे जगदीश्वर भगवान् नारायण की प्रियतमे ! समग्र विश्व की एकमात्र स्वामिनि ! आपकी महिमा आपके प्रियतम भगवान् नारायण भी 'इतनी ही है' इस तरह निश्चित परिमाण में बता नहीं पाये; कारण, आपकी वह अलौकिक महिमा स्वयं भगवान् की महिमा के सदृश असीम तथा सदा भगवदनुकूल<sup>१</sup> है । तथापि आपके दयाभाव से परिचित होने के कारण आपका प्रपन्न दास मैं, निर्भय होकर, सदा स्तवन करता रहूंगा ॥ २ ॥



[ शार्दूलविक्रीडितम् ]

ईषत्त्वत्करुणानिरीक्षणसुधासन्धुक्षणाद्रक्ष्यते  
नष्टं प्राक्तदलाभतस्त्रिभुवनं सम्प्रत्यनन्तोदयम् ।

श्रेयो नह्यरविन्दलोचनमनःकान्ताप्रसादादृते

संसृत्याक्षरवैष्णवाध्वसु नृणां सम्भाव्यते कर्हिचित् ॥ ३ ॥

हे भगवति ! तनिक सी भी आप की कृपादृष्टिरूपी  
अमृत का सञ्जीवन पाकर ही यह जगत् सुरक्षित है । कल्पारम्भ  
से पूर्व कुछ काल के लिये आपके दयामृत से वञ्चित हो जाने  
से यह जगत् प्रलीन हो गया था और वही पुनः उस सञ्जीवन  
को पाकर अनन्त उदय पा रहा है । अत एव यह निश्चित है कि  
कमलनयन भगवान् की परमप्रेयसी भगवती महालक्ष्मी के  
अनुग्रह के बिना, संसार में आये हुए, शाश्वत वैष्णव धर्म पर  
चलने वाले मानवों के कल्याण की कदापि सम्भावना नहीं है ॥ ३ ॥

स्तोत्रम् ]

[ शार्दूलविक्रीडितम् ]

शान्तानन्तमहाविभूतिपरमं यद्ब्रह्मरूपं हरे-

मूर्त्तं ब्रह्म ततोऽपि यत् प्रियतरं रूपं यदत्यद्भुतम् ।

यान्यन्यानि यथासुखं विहरतो रूपाणि सर्वाणि ता-

न्याहुः स्वैरनुरूपरूपविभवैर्गाढोपगूढानि ते ॥ ४ ॥

भगवान् नारायण का जो शान्त, अनन्त तथा महाविभूति से सम्पन्न अप्राकृत वैकुण्ठ में नित्यमुक्त चेतनों द्वारा संसेव्यमान पर ब्रह्मस्वरूप है ; तथा जो वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध नामों से चतुर्व्यूहात्मक मूर्त्त ब्रह्मस्वरूप है, तथा उससे प्रियतर श्रीहयग्रीव, हंस, मत्स्य आदि विभवावतार स्वरूप हैं; और उनसे भी अधिक अद्भुत जो विश्वरूप है ; एवं अन्यान्य भगवान् के नाना प्रकार के आविर्भाव समय समय पर लोकमङ्गल के लिये हुए हैं वे सभी स्वरूप, हे भगवति महालक्ष्मी ! नारायण

[ पद्यम् ]

आकारत्रयसम्पन्नामरविन्दनिवासिनीम् ।

अशेषजगदीशित्रीं वन्दे वरदवल्लभाम् ॥ ५ ॥

श्री, भू एवं नीला रूप त्रिविध स्वरूप में आविर्भूत,  
 कमलासन पर समारूढ, अखिल ब्रह्माण्ड की स्वामिनी वरद  
 भगवान् नारायण की परमप्रेयसी माता महालक्ष्मी को मैं  
 बारंबार प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीवरदवल्लभास्तोत्रं समाप्तम् ॥

कैसे अनुरूप आपके रूप विभव से नित्यानपायी होने के कारण  
 सदा समालिङ्गित हैं ॥ ४ ॥

१. देखो चित्रण सं. २००।



॥ श्रीः ॥

## रामानुजचतुःश्लोकी

[ औपच्छन्दसकम् ]

अनिशं भजतामनन्यभाजां

चरणाम्भोरुहमादरेण पुंसाम् ।

वितरसि विविधां विभूतिनिष्ठां

जय रामानुज रङ्गधाम्नि नित्यम् ॥ १ ॥

भगवद्रामानुज ! सदा आदर के साथ आपके चरण-  
कमलों का आश्रय लेने वाले अनन्य भक्त सज्जनों को आप

विविध प्रकार के शाश्वत कल्याण प्रदान करते हो । दिव्यधाम

वैकुण्ठ में आपकी सदा जय हो ॥ १ ॥

[ औपच्छन्दसकम् ]

जयिनो विमताँस्त्वदीयसूक्तिं

कुशलीभूय कुट्टष्टिभिः समेतान् ।

शकलीकुरूपे विपश्चिदोघान्

जय रामानुज रङ्गधाम्नि नित्यम् ॥ २ ॥

भगवद्रामानुज ! वेदविरुद्ध मतों को मानने वाले विपक्षि लोक चतुर वन कर, आपकी शुद्ध, सप्रमाण उक्तियों का विरोध कर, विजय चाहने वाले विद्वानों के समुदाय को आप अस्त व्यस्त कर पराजित करते हो । दिव्य धाम वैकुण्ठ में आप की सदा जय हो ॥ २ ॥

[ औपच्छन्दसकम् ]

जय मायिमतान्धकारभानो

जय बाह्यप्रमुखाटवीकृशानो ।

जय सन्मतसिन्धुशीतभानो

जय रामानुज रङ्गधाम्नि नित्यम् ॥ ३ ॥

भगवद्रामानुज ! मायावादरूपी अन्धकार को आप दूर करने वाले सूर्य हैं । वेदबाह्य नास्तिक प्रमुखवादियों के अरण्य के लिये आप दावानल हैं । सन्मत (= विशिष्टाद्वैतमत) के समुद्र को बढाने वाले आप चन्द्रमा हैं । दिव्यधाम वैकण्ठ में सदा आप की जय हो ॥ ३ ॥



[ औपच्छन्दसकम् ]

श्रुतिसम्मतसुप्रमाणतत्त्वं

कृपयाऽऽलोच्य सुधासमानबुद्ध्या ।

अकृथा विततैकभाष्यरत्नं

जय रामानुज रङ्गधाम्नि नित्यम् ॥ ४ ॥

भगवद्रामानुज ! वेदसम्मत तथा सुप्रमाणों से निश्चित तत्त्व का आपने अपनी अमृतसदृश प्रशान्त बुद्धि से विचार-विमर्श कर ब्रह्मसूत्रों पर रत्न समान एक विस्तृत भाष्य की रचना की ( जो श्रीभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है ) । दिव्यधाम वैकुण्ठ में आप की सदा जय हो ॥ ४ ॥

॥ इति रामानुजचतुःश्लोकी समाप्ता ॥

## विवरण

विवृति संख्या —

१. मुक्त आत्मा के अर्थ में स्वराट् पद छान्दोग्योपनिषत् में प्रयुक्त हुआ है; यथा —

.....आत्मानन्दः स स्वराट् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति.....  
[ — छा. उप. ७-२५-२.

स्वराट् पद का अर्थ है : 'स्वो भगवान् — सोऽस्य प्रत्यक्षत आज्ञापयिता भवतीति स्वराट् ।' — माध्वभाष्य (छान्दोग्योपनिषत्)

२. तुलना कीजिये —

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं शपथैश्चापि कोटिभिः ।  
विष्णुमाहात्म्यलेशस्य विभक्तस्य च कोटिधा ॥  
पुनश्चानन्तधा तस्य पुनश्चापि ह्यनन्तधा ।  
नैकांशसममाहात्म्याः श्रीशेष-ब्रह्म-शङ्कराः ॥

३. वेदों का अपहरण — पद्मपुराण में इस प्रकार कथानक है :—

मकर नामक दैत्य ने ब्रह्मा को धोखा देकर वेदों का हरण किया, और उन्हें लेकर वह पाताल चला गया। वेदों के हरण हो जाने से सारे विश्व में अनाचार फैलने लगा, जिससे पीड़ित होकर ब्रह्मा ने भगवान् विष्णु की शरण जाकर उनसे वेदों की रक्षा की प्रार्थना की। तब विष्णु भगवान् ने मत्स्य का अवतार लेकर मकरासुर का वध किया एवं उससे वेद लेकर ब्रह्मा को दिये। इस प्रकार भगवान् विष्णु ने वेदापहरण से उत्पन्न पीडा से ब्रह्मा की रक्षा की।

४. महापातक — यह पातक शङ्कर द्वारा जो ब्रह्मा का पाँचवा मुख तोड़ा गया उस प्रसङ्ग से सम्बन्धित है। मत्स्यपुराण में इसकी कथा इस प्रकार है :—

एक दिन गर्व में आकर ब्रह्मा ने शङ्कर से कहा, “मैं तुम से हर प्रकार ज्येष्ठ हूँ।” यह सुन, क्रुद्ध होकर शङ्कर ने ब्रह्मा के पाँचवे मुख को तोड़ कर पृथ्वी पर फेंक दिया। इस से शङ्कर को ब्रह्म-



हत्या का पाप लगा । भगवान् विष्णु ने शङ्कर को उस पाप से मुक्त किया था ।

५. **दैत्यपीडा** — यहाँ दैत्यपीडा से अभिप्राय भस्मासुर से शङ्कर को प्राप्त पीडा से है । इस सम्बन्ध में प्रचलित कथा इस प्रकार है :

भस्मासुर शङ्कर का परम भक्त था । प्रसन्न हो, शङ्कर ने उसे वर दिया था कि “जिस के सिर पर तू हाथ रखेगा, वह तत्काल दग्ध होकर भस्म हो जायगा” । इस वर के कारण वह सब लोगों को अत्यधिक त्रस्त करने लगा । यहाँ तक कि उस का प्रयोग शङ्कर पर भी करने के लिये वह उद्यत हुआ । तब श्री विष्णु ने मोहिनी रूप धारण कर ‘मुक्त वृत्य’ की मुद्रा में भस्मासुर को अपना हाथ अपने ही सिर पर रखने के लिये विवश किया जिस से वह स्वयं भस्म हो गया । इस प्रकार भगवान् विष्णु ने दैत्य पीडा से शङ्कर की रक्षा की ।

६. **तुलना कीजिये** —

शम्भुधर जो देव स्वधिरसाधनो न मूर्तिनम्रतः । — श्री शङ्कराचार्य

७. टिप्पणी (श्लोक १६)—उपर्युक्त पद्य (१५) में बताया गया कि भगवान् को समझने के साधन तो हैं किन्तु आसुरी प्रकृतिवाले लोक उन साधनों के माध्यम से भी भगवान् को नहीं समझ सकते । अब इस पद्य (१६) में आचार्य कहते हैं कि भगवान् को न समझने के कारण भी हैं; वे कारण हैं : भगवान् का अनन्त होना, सब सीमाओं से अतीत होना और स्वयं भगवान् का भी अपने आप को अपनी माया से छुपा कर रखना ; ये सब होते हुए भी अनन्य भक्त तो भगवान् को पहचान ही लेते हैं ।
८. यदण्डमण्डान्तरगोचरं यदशोत्तराण्यावरणानि .... ।

इस पद्य में ब्रह्माण्ड के रचना क्रम की ओर सङ्केत है । जिसका संक्षेप में स्वरूप ऐसा है —

सर्गकाल उपस्थित होने पर भगवान् विष्णु ने अपनी इच्छा से विकारी प्रधान तथा अविकारी पुरुष में प्रविष्ट होकर उन्हें क्षोभित किया । तब प्रधान से महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई । महत्तत्त्व से वैकारिक ( सात्त्विक ), तैजस ( राजस ) और भूतादि ( तामस ) रूप अद्वय

उत्पन्न हुआ । तामस अहङ्कार से भूत तन्मात्रा का सर्ग हुआ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध क्रमशः इन विशेष गुणों से युक्त आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी की सृष्टि हुई । तैजस ( राजस ) अहङ्कार से इन्द्रियों, और वैकारिक ( सात्त्विक ) अहङ्कार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता दश देवता तथा मन उत्पन्न हुए ।

इन भूतों में पृथक् पृथक् नाना शक्तियाँ हैं । अतः वे परस्पर पूर्णतया मिले बिना संसार की रचना नहीं कर सके । इसलिये महत्तत्त्व से लेकर प्रकृति के इन सभी विकारों ने मिल कर एक अण्ड की उत्पत्ति की । क्रमशः जल के बुलबुले के समान वह अण्ड बड़ा हुआ गोलाकार बनकर जल पर स्थित हो कर ब्रह्मरूप विष्णु का अत्युत्तम प्राकृत आधार बना । अतः यह ब्रह्माण्ड कहलाता है । इस अण्ड में ही पर्वत, द्वीप, समुद्र, ग्रहगणसहित सर्व लोक, देव, असुर और मनुष्य आदि विविध प्राणी प्रकट हुए जो वहीं अवस्थित रहे । यही अण्ड बाहर से पूर्वपूर्व की अपेक्षा दश-दश गुण अधिक जल, अग्नि, वायु, आकाश और भूतादि ( = तामस अहङ्कार ) महत्तत्त्व से आवृत है ; और इन



सब के सहित वह महत्तत्त्व भी अव्यक्त प्रधान से आवृत है। इन आवरणों में प्रथम आवरण जो जल का है वह दशकोटि योजन विस्तीर्ण है। इस के बाद का प्रत्येक आवरण पूर्व के आवरण से दश गुण अधिक बड़ा है। इस से कल्पना की जा सकती है कि कुल मिलाकर यह वायु आवरण कितना बड़ा होगा। इस प्रकार जैसे नारियल के फल का भीतरी बीज कितने ही छिलकों से ढका रहता है वैसे ही यह अण्ड इन प्राकृत आवरणों से घिरा हुआ है जो भीतरी तत्त्वों से दश दशगुण अधिक हैं। अतएव ये आवरण दशोत्तर हैं।

[ विष्णुपुराण अंश २, अध्याय २ । ]

९. ते ये शतम् — पद्य संख्या १९ में “ते ये शतम्” जो पदसमूह है वह तैत्तिरीय उपनिषत् की द्वितीय (आनन्द) बल्ली में पाया जाता है। उसमें “सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति” ऐसा प्रारम्भ कर “ते ये शतम् आनन्दाः” अर्थात् जो अमुक एक व्यक्ति के सौ आनन्द हैं वे उससे श्रेष्ठ व्यक्ति के एक आनन्द के समान हैं ऐसी उत्तरोत्तर गणना करते करते परब्रह्म के आनन्द तक आ जायेंगे हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान् विष्णु के आनन्द आदि एक एक गुण कितने महान् हैं इस की सीमा निश्चित करने की इच्छा से वेदों ने विष्णु के आनन्द को तोलने या नापने का विचार किया। इस कार्य के लिये उन्होंने चतुर्मुख ब्रह्मा के आनन्द को मापदण्ड मानकर उनके (चतुर्मुखब्रह्मा के) आनन्द से शतगुण अधिक आनन्द भगवान् विष्णु का होगा ऐसा स्थूल-मान से देखा। किन्तु उन्हें (वेदों को) यह अनुभव हुआ कि भगवान् विष्णु का आनन्द इस से कई गुणित अधिक है। अतः वे (वेद) चतुर्मुख ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ ऐसे कई पुरुषों की कल्पना कर चतुर्मुख ब्रह्मा से भी ऊपर ऊपर वाले प्रत्येक श्रेष्ठ पुरुष का आनन्द नीचे वाले पुरुष के आनन्द से शतगुण अधिक है ऐसा मानते हुए उन सब पुरुषों से ऊपर जो सर्व श्रेष्ठ भगवान् विष्णु हैं उनका आनन्द कितना अधिक होगा इसका अनुमान लगाने में लगे हैं। किन्तु इस उद्यम में उनकी कोई विशेष प्रगति नहीं हो रही है; कारण, भगवान् विष्णु के आनन्द आदि अनन्त गुणों में प्रत्येक गुण चतुर्मुख ब्रह्मा अथवा उससे भी श्रेष्ठ और उनसे भी श्रेष्ठ ऐसे कई

पुरुषों के गुणों से असंख्य गुणित अधिक होने से यह कार्य कभी समाप्त होने वाला नहीं हैं । इसी लिए स्कन्दपुराण में कहा गया है —

यदन्तरं प्रलयजवारिविप्रुषोर्यदन्तरं स्तम्बहिरण्यगर्भयोः ।

स्फुलिङ्गसंवर्तकयोर्यदन्तरं तदन्तरं विष्णुहिरण्यगर्भयोः ॥

अनन्तत्वान्महाविष्णोस्तदन्तरमनन्तकम् ।

माहात्म्यसूचनार्थाय ह्युदाहरणमीरितम् ॥

१०. टिप्पणी—यहाँ भगवान् वाणी और मन के अगोचर हैं यह बात जानते हुए भी भक्ताग्रणी श्रीयामुन उनकी स्तुति क्यों करते हैं ऐसा एक प्रश्न पूछा जा सकता है । अभिप्राय यह है कि भगवान् वाचाम् अगोचर होने पर भी, मन की पहुँच के बाहर होते हुए भी, भक्तवत्सलता के कारण पूर्णरूप से नहीं तो किसी अंश में तो भक्त के लिये ज्ञेय हो ही जाते हैं । उतनी ज्ञेयता भी निःसन्देह भक्तोपकारक होती है ।

११. इसमें इस स्तोत्र के रचयिता श्रीयामुनाचार्य के बाल्यकाल की दयनीय स्थिति की कुछ झलक दिखायी देती है । श्रीयामुनाचार्य के बाल्यकाल



में ही उनके पिता श्रीईश्वरमुनि का देहान्त हो गया था और उनके पितामह श्रीनाथ मुनि ( श्रीईश्वरमुनि के पिता ) पुत्रशोक से विरक्त होकर सन्यासी हो गये थे । परिणामस्वरूप, श्रीयामुनाचार्य का पालन-पोषण बहुत ही कठिनाई से उनकी माता तथा पितामही को करना पड़ा था ।

१२. इस पद्य को श्री अप्पय्य दीक्षित ने कुवलयानन्द में ( पृ. ५३ ) तथा श्रीजगन्नाथ पण्डित ने रसगङ्गाधर में ( पृ. ४५१ तथा ४५२ ) प्रति-वस्तूपमालङ्कार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर इसकी प्रशंसा की है । इससे काव्य की दृष्टि से भी इस पद्य की रमणीयता कितनी है यह बात स्पष्ट हो जाती है । यहाँ यह भी उल्लेख करना अनुचित न होगा कि “पादपङ्कजे निवेशितात्मा” के साथ अनुरूपता लाने के हेतु “स्थितोऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे” के स्थान पर ‘स्थितोऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे’ ऐसा किया जाय तो यह और भी रमणीय होगा ऐसा सुझाव रसगङ्गाधरकार श्रीजगन्नाथ पण्डित ने दिया है जो हृदयङ्गम है । वहीं पाठ अधिक भावुक है और नित्य पाठ में अपनाने योग्य है ।

१३. इक्षुरक = एक पुष्प विशेष जिसका नाम पाश्चात्य वनस्पति शास्त्र में 'Capparis Spinosa' अथवा 'Seccaharum Spontaneum.' है।

इसकी कलियों का परम स्वादु अचार बनता है। कन्नड़ में इसे 'कोळवलिकेदूवु' कहते हैं।

खेमराजीय पाठ में इक्षुरक के स्थान पर इक्षुरस (= ऊख या गन्ने का रस) है जिसका कमल के साथ कोई ताल-मेल नहीं बैठता।

१४. यह संदर्भ उस कथाप्रसंग से है जिसके अनुसार भगवान् विष्णु ने वामनावतार में वलिराजा से दान में त्रिपाद भूमि का वचन पाकर उसी क्षण विराटरूप धारण कर एक पद से समस्त भूमि तथा दूसरे पद से शेष समस्त विश्व को नाप लिया। जब तीसरे पद के लिये कोई स्थान नहीं बचा तब वलि ने अपना मस्तक ही भगवान् के सामने प्रस्तुत किया। तब भगवान् ने प्रसन्न होकर वलि को 'सुतल' नाम के पाताल लोक में सपरिवार स्थापित किया।

१५. कौस्तुभ ( कुस्तुभो जलधिः तत्र भवः कौस्तुभः ) = एक विख्यात रत्न जो समुद्र मन्थन के फलस्वरूप १३ अन्य रत्नों के साथ समुद्र से प्राप्त हुआ तथा जिसे विष्णु अपने वक्षःस्थल पर धारण करते हैं ।

१६. आजानुलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला ।

मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्तिता ॥

वनमाली श्रीकृष्ण भगवान् का प्रसिद्ध नाम है, यथा—

धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली ॥ — गीतगोविन्द ५.

१७. श्रीमद्भागवत के अनुसार यह क्या इस प्रकार है :—

छठे मन्वन्तर में जब देवतागण असुरों से पराजित हुए और दुर्वास ऋषि के शाप के फलस्वरूप इन्द्र आदि सब हतप्रभ हुए, यज्ञ यागादि कियाएँ बन्द हो गयीं तब इन्द्र, वरुण आदि सभी देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर अपनी दयनीय स्थिति के बारे में निवेदन किया । ब्रह्मा ने उन सबको भगवान् नारायण के पास ले जाकर भगवान् की प्रार्थना की । भगवान् नारायण प्रकट हुए और सब देवताओं से कहा 'अभी तो देवों के साथ आप सन्धि कर लें और



समुद्र का मन्थन कर उसमें से अमृत निकालें जिसे पीने से मृत्युग्रस्त प्राणी भी अमर हो जाता है ।” इस उपदेश के अनुसार देवताओं ने असुरराज बलि के पास जाकर उससे सन्धि कर ली । इस सन्धि के अनुसार सुर और असुर दोनों ने मिलकर भगवान् नारायण की सहायता से समुद्र का मन्थन किया । फलस्वरूप सर्व प्रथम हालाहल नाम का भयङ्कर विष निकला । उसे देखते ही भयभीत होकर सब सुरासुर भगवान् सदाशिव के पास गये । प्राणिमात्र पर दयार्द्रचित्त होकर शिवजी उस विष को पी गये । समुद्रमन्थन पुनः प्रारम्भ हुआ । तब क्रमशः उस मन्थन से उच्चैःश्रवा नामक दिव्य अश्व, ऐरावत नाम का दिव्य गज, कौस्तुभ नाम का श्रेष्ठ मणि, पारिजात वृक्ष, अप्सराएं आदि प्रकट हुए । इसके बाद अपनी दिव्य कान्ति में सब दिशाओं को जगमगाती हुई साक्षात् भगवती लक्ष्मी प्रादुर्भूत हुई और उन्होंने समस्त कल्याण गुणों के आश्रय भगवान् का वरण किया । भगवान् नारायण ने भगवती लक्ष्मी को अपने वक्षःस्थल में स्थायी निवास प्रदान किया ।

१८. यह प्रसङ्ग रामायण कथा से सम्बन्धित है जिसके अनुसार भगवान् श्री रामचन्द्र के लिए भगवती सीता को रावण के बन्दिवास से मुक्त करने के लिये रावण से युद्ध करना अनिवार्य हो गया। तब रावण की राजधानी लङ्का जाने के लिये भारतवर्ष से लङ्का को अलग करने वाले हिन्द समुद्र पर सेतु बाँधना आवश्यक हो गया। उस समय भगवान् श्री रामचन्द्र ने सुग्रीव तथा उनके अनुचरों की सहायता से हिन्द सागर पर सेतु निर्माण करवाया।

भारतीय परम्परा के अनुसार भगवान् रामचन्द्र भगवान् विष्णु के ही अवतार तथा भगवती सीता साक्षात् लक्ष्मी देवी के अवतार हैं।

— वाल्मीकि रामायण - अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक।

१९. 'अपूर्ववत् विस्मयमादधानया' इस विशेषण से भगवती लक्ष्मी के सौन्दर्य की प्रशंसा की पराकाष्ठा व्यक्त होती है। जो सौन्दर्य भगवान् के देखने में सदा आता रहता है वह अपूर्व कैसा होगा? अपूर्वता इस कारण है कि वह प्रतिक्षण नया नया दिखायी देता है। प्रतिक्षण

नवीन ही नवीन दीखना ही तो सौंदर्य का लक्षण है । माघ कवि ने कहा है “क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः । ”

२०. यहाँ “शेष” पद में श्लेष है जिसके दो अर्थ हैं — जैसे —

- (i) सहस्र फणवाला सर्प, जो भगवान् विष्णु की शय्या है । इनका दूसरा नाम अनन्त है जो पद्य ३९ में प्रयुक्त हुआ है ।
- (ii) सेवक । श्री वैष्णव सम्प्रदाय अथवा विशिष्टाद्वैत वेदान्त के अनुसार भगवान् शेपी हैं और समस्त चेतनात्मक जगत् भगवान् का शेष है अर्थात् सेवक है । शेष, शेपी के उपयोग के लिये ही है । शेपी की इच्छानुसार ही शेष का व्यवहार होना चाहिये । भगवान् और अन्य समस्त जीवों के बीच यह जो सम्बन्ध है वह शेष-शेपी-भाव कहलाता है । उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भगवान् की सब प्रकार सेवा करनेवाले शेष (सर्प) का भगवान् के श्रेष्ठ शेष (सेवक) कहलाना सार्थक है ।



२१. शरणागति के पाँच परिकरों (अंगों) में 'आनुकूल्यसङ्कल्प' एक अंग है जिसका तात्पर्य यह है कि भगवान् को जो अभिमत हो वही करने का जीवात्मा (भक्त) का सङ्कल्प' ।

ईश्वर के सङ्कल्पानुसार जीवात्मा की बुद्धि तथा इच्छा होना एवं उसके अनुसार जीवात्मा के हाथ से कार्य होना यह एक बहुत उच्च ध्येय है । जिसने यह साध लिया है उसके लिये तो कोई समस्या ही नहीं रहती । यह योग्यता मुक्त जीवात्मा को प्राप्त होगी ही; किन्तु सांसारिक अवस्था में भी ईश्वरीय सङ्कल्प को किसी अंश में भी समझने के लिये पवित्र जीवन तथा चिन्तन की आवश्यकता होती है । इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय आरण्यक की निम्न पंक्तियाँ मनन योग्य हैं—

ब्रह्ममत्यनुकूला मे मतिर्मुक्तौ भविष्यति ।

अतः प्रायोऽनुकूलत्वमिदानीमपि मे स्थितम् ॥

तैत्तिरीय आरण्यक, ३-१२-२०

१. पञ्च परिकर के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये देखें 'अष्टशोकी'

पृ. ३६-३८ [ भारतीय पब्लिकेशन्स, इन्दौर ] ।

श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित विश्वरूपदर्शन तत्कालीन भगवत्सङ्कल्प का ही तो दृश्य था जिसे देखने के लिये अर्जुन को दिव्य चक्षु प्रदान किया गया था और जिसे देखने के बाद अर्जुन के मन में कार्य एवं अकार्य के सम्बन्ध में कोई भी शङ्का रह नहीं गयी थी ।

२२. यह तो सामान्य अनुभव की बात है कि आनन्द में समय बहुत शीघ्र कट जाता है और दुःख में थोड़ा समय भी बहुत लम्बा प्रतीत होता है । काल का दीर्घ प्रतीत होना अथवा अल्प प्रतीत होना सापेक्ष (relative) है ।

एक किंवदन्ति है कि एक बार “आपके सापेक्षवाद (theory of relativity) की सरल रीति से समझाइए” ऐसा किसी व्यक्ति द्वारा निवेदन किये जाने पर प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टाइन ने निम्न प्रश्नोत्तरों के रूप में उस पर प्रकाश डाला ।

आइन्स्टाइन — आप को एक जलते हुए चूल्हे पर एक क्षण बैठाया जाय तो आप को वह क्षण कैसा प्रतीत होगा ?

उत्तर — युग जैसा ।

आयन्स्टाइन — अच्छा, आप को अपनी प्रेयसी के साथ एक घण्टा भर किसी एक अच्छे वर्गाचे में रहने दिया जाय तो वह समय कैसा प्रतीत होगा ?

उत्तर — एक क्षण जैसा ।

आयन्स्टाइन — यही सापेक्षवाद है ।

यह तो मनुष्य के अनुभव की बात हुई । उपर्युक्त पद्य में तो कवि ने भगवान् विष्णु द्वारा भगवती लक्ष्मी को प्रदान किये गये आनन्द का वर्णन किया है जो कालातीत है अत एव अवर्णनीय है तथापि ऐसे सुन्दर काव्य या स्तोत्र के माध्यम से ऐसे परमानन्द की भी कुछ रूपना की जा सकती है ।

२३. पूर्व पद्य में आचार्य ने 'आज ही मैं अपने आपको आपके चरणों में समर्पित करता हूँ ।' ऐसा कहा है । यह कहते ही उनके मन में विचार आया होगा कि "जो वस्तु समर्पित की जाती है वह स्वयं की होनी चाहिये तभी वह दूसरे को दी जा सकती है । जो



अपनी है ही नहीं “वह मैं आपको समर्पित करता हूँ” ऐसा कहना कोई अर्थ नहीं रखता । इस दृष्टि से देखा जाय तो वास्तव में ऐसी कौनसी वस्तु है जिस को मैं ‘मेरी’ कह सकता हूँ ? कुछ भी तो नहीं है । मैं स्वयं भी तो भगवान् का ही हूँ । तो यह कहना कि “मैं अपने आपको आपके चरणों में समर्पित करता हूँ । ” कहाँ तक उचित है, अथवा तर्कसङ्गत है ? — ये विचार उपर्युक्त पद्य में व्यक्त किये गये हैं ।

वस्तुतः मनुष्य जो कुछ भगवान् को समर्पित करता है वह भगवान् का ही तो है । तथापि जिस भक्तिभावना के साथ समर्पित किया जाता है उसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

२४. पद्य ५७ में ‘भगवान् की सेवा में काम न आनेवाली वस्तु कोई भी हो — मन हो या आत्मा हो — सैकड़ों टुकड़े हो कर नष्ट हो जाय’ — ऐसी भक्त द्वारा जो इच्छा व्यक्त की गई उस से अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रकार की इच्छा करने वाला व्यक्ति नितान्त शुद्ध आचरण-वाला परम भगवद्भक्त होना चाहिये ।

ऐसे थे ? मानों इसके उत्तर में ही श्री यामुनाचार्य कहते हैं “मैं तो विलकुल अयोग्य हूँ ; तथापि भगवान् का बार बार स्मरण करता हुआ निर्भय होकर ऐसी इच्छा कर रहा हूँ ।” यही आशय अगले पद्य में व्यक्त किया जा रहा है । यह श्री यामुनाचार्य के विनय की परा काष्ठा है ।

२५. तात्पर्य यह है कि अभी मेरे द्वारा आपका जो स्तोत्र रचा गया है वह मेरे मनका प्रामाणिक दर्पण नहीं है, अर्थात् जो भावनाएँ इस स्तोत्र में व्यक्त हुई हैं वे मेरे मनमें नहीं हैं । यह एक धोखा है । किन्तु हे भगवन् । आप सर्वान्तर्यामी हैं; आप तो जानते ही हैं इस स्तोत्र के पीछे जो भावनाएं होनी चाहिये, वे मेरे मन में नहीं हैं । फिर आपको तो धोखा मैं दे ही नहीं सकता । अतः आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि आप मेरे मन को ही ऐसा परिवर्तित कर दीजिये जिससे इस स्तोत्र में व्यक्त भावनाएं मेरे मन की स्वाभाविक भावनाएं हो जाँय और यह स्तोत्र छद्म स्तुति न होकर मेरे मन के वास्तविक रूप का द्योतक

मानस शास्त्र की दृष्टि से इस पद्य में व्यक्त विचार बहुत महत्त्व रखते हैं। यह सच है कि मन में जो बात नहीं है उसे कहना मिथ्याचार है, जो अनुचित है। अब प्रश्न यह है कि भगवान् की स्तुति करते हुए भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाले एक साधक के मनमें यदि वे भावनाएं नहीं हैं जो उस स्तुति में व्यक्त हुई हैं तो उसे क्या करना चाहिये ? 'क्या मेरे हाथ से मिथ्याचार होगा' इस भय से भगवान् की स्तुति करना ही छोड़ दी जाय ? ऐसे संशय से ग्रस्त प्रथम सीढ़ी के साधक को श्री यामुनाचार्य के उपर्युक्त पद्य से यह मार्ग-दर्शन मिलता है कि स्तुति में व्यक्त भावनाएं उसके मन में हों या न हों, वह भगवान् की स्तुति अवश्य करे और भगवान् से प्रार्थना करे "हे भगवन् जिस स्तोत्र से मैं आपकी स्तुति कर रहा हूं उसमें व्यक्त भावनाओं के अनुरूप मेरा मन बनाइये जिससे यह स्तुति मेरे मनकी वास्तविक भावना का प्रतिबिम्ब हो जाय।"

२६. यह उस समय की घटना है जब भगवान् रामचन्द्र तथा भगवती सीता अपने वनवासकाल में चिमूट में निवास कर रहे थे। एक दिन



मन्दाकिनी नदी के पास भगवान् रामचन्द्र सो रहे थे और भगवती सीता बैठी हुई थीं । उस समय एक आमिषलोलुप काक ने ( जो वास्तव में इन्द्र का पुत्र काकवेषधारी जयन्त ही था ) भगवती सीता पर आक्रमण कर उनके स्तन को विदीर्ण किया । उससे टपके हुए रक्त बिन्दुओं के स्पर्श से भगवान् रामचन्द्र जग गये और उन्होंने असह्य क्रोध से एक दर्भ को ब्रह्मास्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित कर काक की ओर फेंक दिया । उसे देखते ही काक भाग निकला और उससे बचने के लिये तेज गति से उड़ता हुआ वह तीनों लोकों का भ्रमण कर चुका किन्तु उस दर्भ से जब बचना असम्भव हो गया तो उस काक ने अन्त में भगवान् रामचन्द्र की ही शरण ली । दयार्द्रचित्त होकर भगवान् रामचन्द्र ने वधयोग्य काक को भी क्षमा प्रदान की ।

वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत् ।

— रामायण, सुन्दरकाण्ड ३०-८

२७. सन्दर्भ इस प्रकार है — चेदिराज शिशुपाल भगवान् कृष्ण की बुआ का पुत्र था। वह बाल्य-काल से ही श्रीकृष्ण का कटु वैरी था और उसने कई बार श्रीकृष्ण का अपमान किया था। किन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी बुआ को वचन दिया था कि जब तक शिशुपाल के हाथ से सौ अपराध नहीं होंगे तब तक उसकी क्षमा की जायगी। जब शिशुपाल पूरे सौ अपराध कर चुका और पाण्डवों के राजसूय याग में श्रीकृष्ण को युद्ध के लिये जब उसने ललकारा तब भगवान् कृष्ण ने अपने चक्र से शिशुपाल का शिर काट डाला। उस समय शिशुपाल के शरीर से एक ज्योति निकली जो भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम कर उनकी देह में मिल गयी।

[ महाभारत, सभापर्व— ३७-४२

शिशुपाल के पूर्व जन्म की कथा इस प्रकार है —

एक बार चतुर्मुख ब्रह्मा के सनन्दनादि पुत्र, जो नग्न होने के कारण पाँच छः साल के बालक जैसे दीखते थे, तीनों लोकों में भ्रमण करते हुए अकस्मात् विष्णु लोक (वैकुण्ठ) में चले गये। भगवान् विष्णु के जय तथा विजय नाम के द्वारपालों ने उन्हें बालक समझकर भगवान्

के निवास स्थान के अन्दर जाने से रोक दिया । उस पर क्रुद्ध होकर ब्रह्म पुत्रों ने उन्हें यह शाप दिया ।

“भगवान् विष्णु के पादमूल में जहां रजोगुण और तमोगुण को स्थान नहीं तुम दोनों रहने योग्य नहीं हो । अतः तुम दोनों यहां से जाओ और त्रिवार आसुरी योनि में जन्म लो ।”

इस प्रकार शाप लेकर वे दोनों अपने प्रथम आसुर जन्म में हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नाम से उत्पन्न हुए । उनमें से हिरण्याक्ष का वध भगवान् विष्णु ने वराहावतार में किया और हिरण्यकशिपु का वध नरसिंहावतार में किया । द्वितीय जन्म में वे रावण और कुम्भकर्ण के रूप में उत्पन्न हुए और श्री रामचन्द्र के द्वारा युद्ध में मारे गये । तृतीय जन्म में वे शिशुपाल और दन्तवक्त्र के नाम से पैदा हुए और श्रीकृष्ण द्वारा मारे गये । इस प्रकार भगवान् विष्णु ने अपने द्वारपाल जय विजयों को शाप से विमुक्त किया ।

— श्रीमद्भागवत-७, १, ३५-४६



२८. पद्य ५० से अन्त तक अपनी हीनता को ही श्रीयामुनाचार्य ने व्यक्त किया है। पद्य ६४ तथा ६५ में तो वे अपने आपको कृतघ्न, दुरभिमानी, पापात्मा इत्यादि विशेषणों से निन्दित कर आत्म-ग्लानि की चरम सीमा तक पहुँच गये ऐसा प्रतीत होता है। यहां एक शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि श्री यामुनाचार्य जैसे महान् व्यक्ति को इस प्रकार आत्म-ग्लानि के लिये कौनसा पाप कारण हो सकता है ?

इस शङ्का का समाधान अनुमान से ही किया जा सकता है। सम्भव है इस स्तोत्र की श्री यामुनाचार्य ने उस समय रचना की होगी जब वे पाण्ड्य राज्य को, जिसके वे राजा थे, श्री राम मिश्र के उपदेश से विरक्त हो, छोड़कर श्रीराम मिश्र के साथ श्रीरङ्गम आये और श्रीरङ्गनाथ स्वामी के दर्शन करते ही मूर्च्छित हो गये और होश में आते ही उन्होंने निश्चय किया कि शेष जीवन अब मैं श्री रङ्गनाथस्वामी की सेवा में ही व्यतीत करूँगा। उस समय उनकी आयु ३५ वर्ष से अधिक हो गई थी। उन्होंने बहुत छोटी आयु से ही रजिय करना प्रारम्भ

कर दिया था । विरक्त होने पर उन्हें राज्य शासन काल में व्यतीत वर्ष सब व्यर्थ, पापमय तथा भगवत्पराङ्मुख प्रतीत होने लगे होंगे । परिणामतः उन्हें अत्यधिक आत्मग्लानि हुई होगी ।

२९. श्री के सभी कार्य भगवान् नारायण के सङ्कल्पों के अनुकूल ही होते हैं । अतः यह कहना ठीक ही है कि उनकी महिमा भगवान् की महिमा के सदृश तथा अनुकूल है । इसी स्थिति को ध्यान में रख शास्त्रों में कहा गया है कि 'परस्परानुकूल्यतया सर्वत्र सामरस्यम्' ।<sup>१</sup>

३०. भगवान् नारायण तथा भगवती लक्ष्मी आपस में किस प्रकार एक दूसरे में मिले हुए हैं यह श्रीविष्णुपुराण के निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है —

अर्थो विष्णुरियं वाणी, नीतिरेषा नयो हरिः ।

बोधो विष्णुरियं बुद्धि, धर्मोऽसौ सत्किया त्वियम् ॥

१. विशेष विवरण के लिये देखिये 'अष्टश्लोकी' [ भारती पब्लिकेशन्स, इंदौर ]

— पृ. १०-११

मैत्रेय केशवः सूर्यस्तत्प्रभा कमलालया ।

जलधिर्द्विज गोविन्दस्तद्वेला श्रीर्महामुने ॥

( = भगवान् विष्णु अर्थ हैं और लक्ष्मीजी शब्द हैं । हरि न्याय हैं और लक्ष्मी नीति हैं । भगवान् विष्णु बोध हैं और लक्ष्मीजी बुद्धि हैं । वे धर्म हैं और ये सत्क्रिया हैं । केशव सूर्य हैं तथा कमलवासिनी लक्ष्मी उनकी प्रभा है । श्रीगोविन्द समुद्र हैं और लक्ष्मीजी उनकी वेला है । )

-----

रामानुजचतुःश्लोकी पद्य २ के मुद्रित पाठ में सर्वत्र “कुशलीभूय”  
( = चतुर होकर ) ही मिलता है, परन्तु गुरुमुख से प्राप्त “कुलिशीभूय”  
( = कुलिश अर्थात् वज्र बन कर ) पाठ ही अधिक सुसङ्गत प्रतीत होता है ।



## परिशिष्ट

श्रीरामानुज चतुःश्लोकी का आमूलाग्र एक और पाठ  
निम्नलिखित रूप में प्रचलित है —

अनिशं भजतामनन्यभाजां चरणाभोरुहमादरेण पुंसाम् ।  
वितरन्निभृतं विभूतिमिष्टां जय रामानुज रङ्गधाम्नि नित्यम् ॥ १ ॥

भुवि नो विमताँस्त्वदीयसूक्तिः कुलिशीभूय कुदृष्टिभिः समेतान् ।  
शकलीकुरुते विपश्चिदीड्या जय रामानुज शेषशैलशृङ्गे ॥ २ ॥

श्रुतिषु स्मृतिषु प्रमाणतत्त्वं कृपयाऽऽलोक्य विशुद्धया हि बुद्धया ।  
अकृथाः स्वत एव भाष्यरत्नं जय रामानुज हरितधाम्नि नित्यम् ॥ ३ ॥

जय मायिमतान्धकारभानो जय बाह्यप्रमुखादवीकृशानो ।  
जय संश्रितसिन्धुशीतभानो जय रामानुज यादवाद्रिशृङ्गे ॥ ४ ॥

रामानुजचतुःश्लोकीं यः पठेन्नियतः सदा ।  
प्राप्नुयात्परमां भक्तिं यतिराजपदाब्जयोः ॥

॥ इति रामानुजचतुःश्लोकी समाप्ता ॥

## श्लोकानुक्रमणी

[ सङ्केत सूची — प्रा. = प्रारम्भिक पद्य संख्या, वर. = वरदवल्लभा पद्य संख्या  
रामा. = रामानुजचतुःश्लोकी ]

| प्रतीक             | पृष्ठ   | प्रतीक         | पृष्ठ | प्रतीक           | पृष्ठ |
|--------------------|---------|----------------|-------|------------------|-------|
| अ                  |         | अ              |       | उ                |       |
| अङ्कत्रिमत्वच्च-°  | ६५      | अविवेकघना-°    | ४०    | उल्लङ्घितत्रि-°  | १६    |
| अचिन्त्यदिव्या-°   | ४५      | आ              |       | क                |       |
| अनिच्छन्नप्येवं    | ५०      | आकारत्रय-°     | वर. ५ | कः श्रीः श्रियः  | १२    |
| अनिशं भजतां        | रामा. १ | ई              |       | कदा पुनः शङ्ख-°  | ३१    |
| अपराधसह-°          | ४८      | ईषत्त्वत्कर-   | वर. ३ | कस्योदरे हर-°    | १४    |
| अपूर्वनाना-°       | ४४      | उ              |       | कान्तस्ते पुरु-° | वर. १ |
| अभूतपूर्वम्        | २५      | उदग्रपीनांस-°  | ३४    | किञ्चैष शक्त्य-° | ९     |
| अमर्यादः क्षुद्र-° | ६२      | उदीर्णसंसार-°  | २९    | च                |       |
| अवबोधित-°          | ५४      | उपर्युपर्यब्ज- | १०    | चक्रार्थं यस्या  | ३७    |

| प्रतीक            | पृष्ठ  | प्रतीक               | पृष्ठ | प्रतीक           | पृष्ठ |
|-------------------|--------|----------------------|-------|------------------|-------|
| च                 |        | त                    |       | न                |       |
| चकास्तं ज्या-°    | ३३     | त्वदङ्घ्रिमुद्दिश्य- | २८    | ननु प्रपन्नः     |       |
| ज                 |        | त्वदाश्रितानाम्      | २०    | न मृषा पर-°      |       |
| जनित्वाहं वंशे    | ६१     | त्वदीयमुक्तो-°       | ४२    | नमोऽचिन्त्या-°   |       |
| जय मायिमता-°      | रामा.३ | त्वां शीलरूप-°       | १५    | नमो नमो प्रा.    |       |
| जयिनो विमता-°     | रामा.२ | द                    |       | नमो नमो बाङ्-    |       |
| त                 |        | दासः सखा वा-°        | ४१    | नमो यामुन-°      |       |
| तत्त्वेन यश्चिद-° | ४      | दुरन्तस्यानादे-°     | ५८    | नान्वक्षसे यदि   |       |
| तत्त्वेन यस्य     | ७      | ध                    |       | निमज्जतोऽनन्त-°  |       |
| तदहं त्वद्वते     | ५१     | धिगङ्गुचिमवि-°       | ४७    | निरासकस्यापि     |       |
| तथा सहासीन-°      | ३९     | न                    |       | निवासशय्या-°     |       |
| तव दास्यसुखै-°    | ५५     | न देहं न प्राणा-°    | ५७    | प                |       |
| तवामृतस्यान्दि-°  | २७     | न धर्मनिष्ठो         | २२    | पिता त्वं माता   |       |
| तस्मै नमो मधु-°   | २      | न निन्दितम्          | २३    | प्रबुद्धमुग्धा-° |       |



## श्लोकानुक्रमणी

[ सङ्केत सूची — प्रा. = प्रारम्भिक पद्य संख्या, वर. = वरदवल्लभा पद्य संख्या  
रामा. = रामानुजचतुःश्लोकी ]

| प्रतीक             | पृष्ठ   | प्रतीक         | प्रष्ठ | प्रतीक           | पृष्ठ |
|--------------------|---------|----------------|--------|------------------|-------|
| अ                  |         | अ              |        | उ                |       |
| अङ्गुलिमत्त्वच-°   | ६५      | अविवेकघना-°    | ४०     | उल्लङ्घितवि-°    | १६    |
| अचिन्त्यदिव्या-°   | ४५      | आ              |        | क                |       |
| अनिच्छन्नप्येवं    | ५९      | आकारत्रय-°     | वर. ५  | कः श्रीः श्रियः  | १२    |
| अनिशं भजतां        | रामा. १ | ई              |        | कदा पुनः शिख-°   | ३१    |
| अपराधसह-°          | ४८      | ईषत्त्वत्कर-   | वर. ३  | कस्योदरे हर-°    | १४    |
| अपूर्वनाना-°       | ४४      | उ              |        | कान्तस्ते पुरु-° | वर. १ |
| अभूतपूर्वम्        | २५      | उदग्रपीनांस-°  | ३४     | किञ्चैष शक्त्य-° | ९     |
| अमर्यादः क्षुद्र-° | ६२      | उदीर्णसंसार-°  | २९     | च                |       |
| अवबोधित-°          | ५४      | उपर्युपर्यब्ज- | १०     | चकार्यं यस्या    | ३७    |

| प्रतीक                        | पृष्ठ  | प्रतीक                        | पृष्ठ | प्रतीक                       | पृष्ठ  |
|-------------------------------|--------|-------------------------------|-------|------------------------------|--------|
| च                             |        | त                             |       | न                            |        |
| चकासतं ज्या- <sup>०</sup>     | ३३     | त्वदङ्गिप्रमुद्दिश्य-         | २८    | ननु प्रपन्नः                 | ६४     |
| ज                             |        | त्वदाश्रितानाम्               | २०    | न मृषा पर- <sup>०</sup>      | ५०     |
| जनित्वाहं वंशे                | ६१     | त्वदीयमुक्तो- <sup>०</sup>    | ४२    | नमोऽचिन्त्या- <sup>०</sup>   | १      |
| जय मायिमता- <sup>०</sup>      | रामा.३ | त्वां शीलरूप- <sup>०</sup>    | १५    | नमो नमो प्रा.                | २      |
| जयिनो विमता- <sup>०</sup>     | रामा.२ | द                             |       | नमो नमो वाङ्- <sup>०</sup>   | २१     |
| त                             |        | दासः सखा वा- <sup>०</sup>     | ४१    | नमो यामुन- <sup>०</sup>      | प्रा.३ |
| तत्त्वेन यश्चिद- <sup>०</sup> | ४      | दुरन्तस्यानादे- <sup>०</sup>  | ५८    | नान्वेशसे यदि                | १०     |
| तत्त्वेन यस्य                 | ७      | ध                             |       | निमज्जतोऽनन्त- <sup>०</sup>  | २४     |
| तदहं त्वद्वते                 | ५१     | धिगशुचिमवि- <sup>०</sup>      | ४७    | निरासकस्यापि                 | २६     |
| तथा सहासीन- <sup>०</sup>      | ३९     | न                             |       | निवासशय्या- <sup>०</sup>     | ४०     |
| तव दास्यसुखै- <sup>०</sup>    | ५५     | त देहं न प्राणा- <sup>०</sup> | ५७    | प                            |        |
| तवामृतस्यान्दि- <sup>०</sup>  | २७     | न धर्मनिष्ठो                  | २२    | पिता त्वं माता               | ६०     |
| तस्मै नमो मधु- <sup>०</sup>   | ३      | न चिन्तितम्                   | २३    | प्रबुद्धमुत्तम- <sup>०</sup> | ३५     |

| प्रतीक          | पृष्ठ  | प्रतीक            | पृष्ठ | प्रतीक          | पृष्ठ   |
|-----------------|--------|-------------------|-------|-----------------|---------|
| भ               |        | र                 |       | श्र             |         |
| भवन्तमेवानु-°   | ४६     | रघुवर यद-°        | ६३    | श्रुतिसम्मत-°   | रामा. ४ |
| भूयो नमोऽपरि-°  | ३      |                   |       |                 |         |
| म               |        | व                 |       | स               |         |
| मम नाथ यद-°     | ५३     | वपुरादिषु या      | ५२    | सकृत्त्वदाकार-° | ५६      |
| माता पिता       | ५      | वशी वदानयो        | १८    | स्फुरत्किरीटा-° | ३६      |
| य               |        | विराजमानोज्ज्वल-° | ३२    | स्ववैश्वरूप्येण | ३८      |
| यत्पदाम्भोरुह-° | ७२     | विलासविक्रांत-°   | ३०    | स्वादयन्निह     | प्रा. १ |
| यदण्डमण्डा-°    | पृ. १७ | वेदापहार-°        | १३    | स्वाभाविकानव-°  | ११      |
| यद्वा श्रमावधि  | ८      |                   |       |                 |         |
| यन्मूर्ध्नि मे  | ६      | श                 |       | ह               |         |
| यस्यास्ते महि-° | वर. २  | शान्तान तमहा-°    | वर. ४ | हताखिलक्लेश-°   | ४३      |



## श्रीनिवास-स्तोत्र-ग्रन्थमाला

|               |                                                                               | मूल संस्कृत एवं<br>हिन्दी अनुवाद | मूल्य<br>रु. पै. |
|---------------|-------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------|------------------|
| प्रथम पुष्प   | - सुदर्शनाष्टकम्                                                              | "                                | ०-२५             |
| द्वितीय पुष्प | - गजेन्द्रमोक्षस्तवः                                                          | "                                | ०-५०             |
| तृतीय पुष्प   | - कनकधारालक्ष्मीस्तवः                                                         | "                                | ०-५०             |
| चतुर्थ पुष्प  | - श्री विष्णुसहस्रनाम                                                         | स्थूलाक्षर मूल मात्र             | ०-३५             |
| पञ्चम पुष्प   | - श्री मुकुन्दमाला                                                            | मूल संस्कृत एवं हिन्दी अनुवाद    | ०-५०             |
| षष्ठ पुष्प    | - श्री आळवन्दारस्तोत्रम्<br>श्रीवरदवल्लभास्तोत्र-<br>रामानुज-चतुःश्लोकीसहितम् | स्थूलाक्षर मूलमात्र              | ०-५०             |
| सप्तम पुष्प   | - श्री आळवन्दारस्तोत्रम्<br>श्रीवरदवल्लभास्तोत्र-<br>रामानुज-चतुःश्लोकीसहितम् | मूल संस्कृत एवं<br>हिन्दी अनुवाद | १-२५             |

प्राप्ति-स्थान  
भारती पब्लिकेशन्स [प्रा.] लिमिटेड,  
भारती भुवन,  
१५१, इमली बाजार, इन्दौर - ४ (म. प्र.) ।